हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

प्रस्तावित श्रीरामकृष्ण-मन्दिर के माडेल की छवि
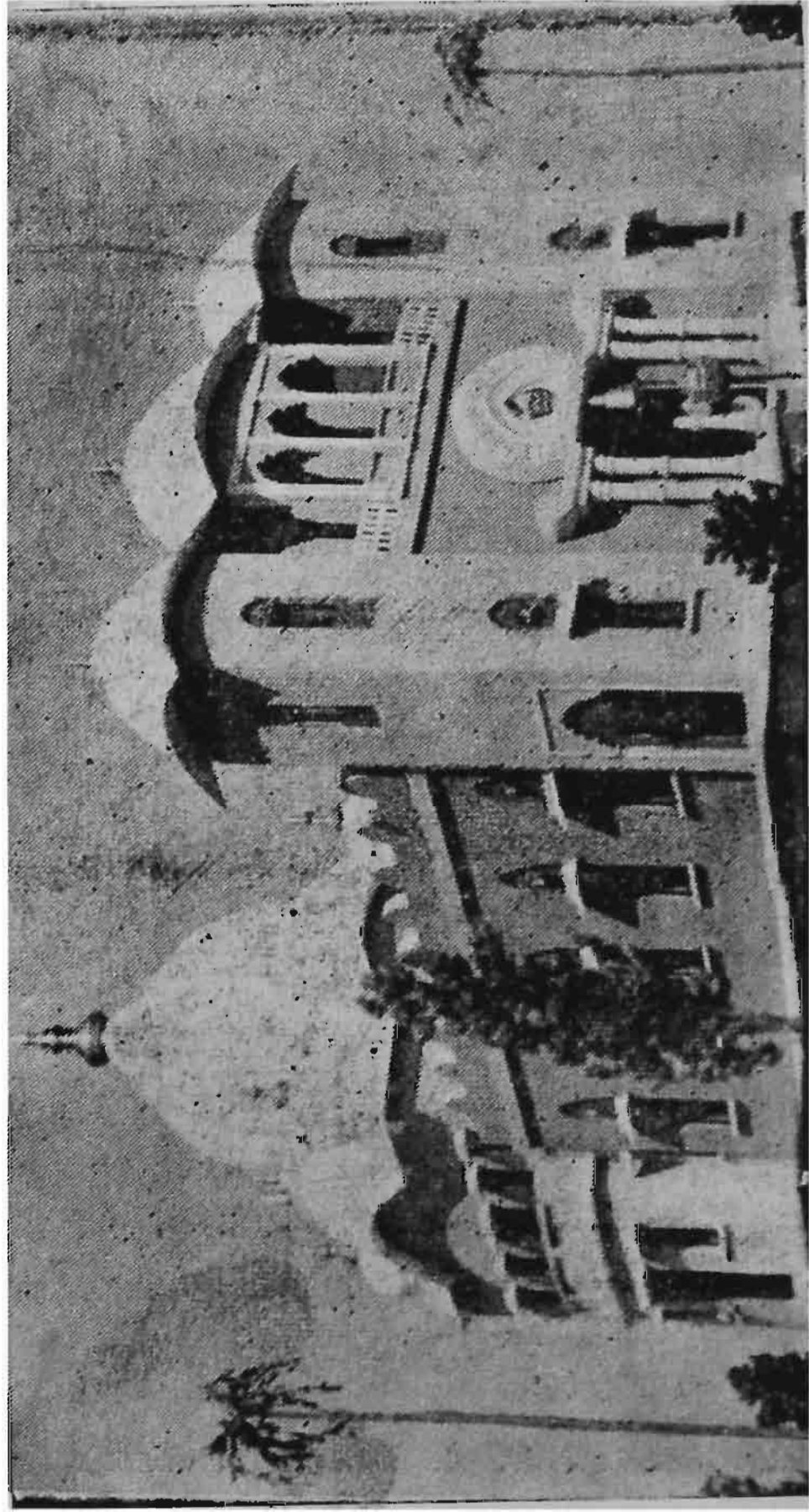
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७३ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ४)

एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

—:०:—

कव्हर चित्र परिचय — स्वामी विवेकानन्द
(कैलिफोर्निया में, सन् १९०० ई०)

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ११] अप्रैल – मई – जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७३ ★ एक प्रति का १)

निज का ही अनुभव काम का

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा
स्वेनैववेद्यं न तु पण्डितेन ।
चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव
ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ।।

––वस्तु के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट बोध के नेत्रों द्वारा स्वयं ही जानना चाहिए, पण्डित के द्वारा नहीं । चाँद का रूप कैसा है यह जानने के लिए उसे अपनी ही आँखों से देखना चाहिए; दूसरों का देखना क्या उसे ज्ञान दे सकेगा ?

––विवेकचूड़ामणि, ५४

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

ओरियेण्टल होटल, याकोहामा
१० जुलाई, १८९३

प्रिय, आलासिंगा, बालाजी, जी० जी० तथा मद्रास के मेरे अन्य मित्रो,

अपनी गतिविधि की सूचना तुम लोगों को बराबर न देते रहने के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। यात्रा में जीवन बहुत व्यस्त रहता है; और विशेषत: बहुतसा सामान-असबाब अपने साथ रखना और उनकी देखभाल करना तो मेरे लिए एक नयी बात है। इसी में मेरी काफी शक्ति लग रही है। यह सचमुच एक बड़े झंझट का काम है।...

यहाँ पर (जापान में) मैंने बहुत से मन्दिर देखे। प्रत्येक मन्दिर में कुछ संस्कृत मंत्र प्राचीन बंग लिपि में लिखे हुए हैं। बहुत थोड़े पुरोहित संस्कृत जाते हैं, पर वे सबके सब बड़े बुद्धिमान हैं। अपनी उन्नति करने का आधुनिक जोश पुरोहितों तक में प्रवेश कर गया है। जापानियों के विषय में जो कुछ मेरे मन में है, वह सब मैं इस छोटे से पत्र में लिखने में असमर्थ हूँ। मेरी केवल यह इच्छा है कि प्रतिवर्ष यथेष्ट संख्या में हमारे नवयुवकों को चीन और जापान में आना चाहिए। जापानी लोगों

के लिए आज भारतवर्ष उच्च और श्रेष्ठ वस्तुओं का स्वप्न-राज्य है। और तुम लोग क्या कर रहे हो ?... जीवन भर केवल बेकार बातें किया करते हो। व्यर्थ बकवास करनेवालो ! तुम लोग क्या हो ? आओ, इन लोगों को देखो और उसके बाद जाकर लज्जा से मुँह छिपा लो। सठियाई बुद्धिवालों ! तुम्हारी तो देश से बाहर निकलते ही जात चली जायगी ! अपनी खोपड़ी में वर्षों के अन्धविश्वास का निरन्तर जमा होता कूड़ा-कर्कट भरे बैठे, सैकड़ों वर्षों से केवल आहार की छुआ-छूत के विवाद में ही अपनी सारी शक्ति नष्ट करनेवाले, युगों के सामाजिक अत्याचार से अपनी सारी मानवता गला घोटनेवाले, भला बताओ तो सही, तुम कौन हो ? और तुम इस समय कर ही क्या रहे हो ?... किताबें हाथ में लिये तुम केवल समुद्र के किनारे फिर रहे हो; यूरोपियनों की मस्तिष्क से निकली हुई इधर-उधर की बातों को लेकर बेसमझे दुहरा रहे हो। तीस रुपये की मुंशीगिरी के लिए, अथवा बहुत हुआ तो एक वकील बनने के लिए जी-जान से तड़प रहे हो—यही तो भारत वर्ष के नवयुवकों की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा है ! फिर तुर्रा यह कि इनमें से हर विद्यार्थी के झुण्ड के झुण्ड बच्चे पैदा हो जाते हैं, जो भूख से तड़पते हुए उसे घेरकर 'रोटी दो, रोटी दो' चिल्लाते हैं ! क्या समुद्र में इतना पानी भी न रहा कि तुम उसमें विश्वविद्यालय के डिप्लोमा, गाउन और पुस्तकों समेत डूब मरो ?

आओ, मनुष्य बनो ! उन पाखण्डी पुरोहितों को, जो उन्नति के मार्ग में सदैव बाधक होते हैं, ठोकरें मारकर निकाल दो, क्योंकि उनका सुधार कभी न होगा। उनके हृदय कभी विशाल न होंगे। उनकी उत्पत्ति तो सैकड़ों वर्षों से अन्धविश्वासों और अत्याचारों के फलस्वरूप हुई है। पहले पुरोहिती पाखण्ड को जड़-मूल से निकाल फेंको। आओ, मनुष्य बनो। कूपमण्डूकता छोड़ो और बाहर दृष्टि डालो। देखो, अन्य देश किस तरह आगे बढ़ रहे हैं क्या तुम्हें मनुष्य से प्रेम है ? क्या तुम्हें अपने देश से प्रेम है ? यदि 'हाँ', तो आओ, हम लोग उच्चता और उन्नति के मार्ग में प्रयत्नशील हों। पीछे मुड़कर मत देखो। अत्यन्त निकट और प्रिय सम्बन्धी रोते हों, तो रोने दो, पीछे देखो ही मत। केवल आगे बढ़ते जाओ ?

भारतमाता कम से कम एक हजार युवकों का बलिदान चाहती है--मस्तिष्क वाले युवकों का, पशुतुल्यों का नहीं। परमात्मा ने तुम्हारी इस निश्चेष्ट सभ्यता को तोड़ने के लिए ही अँगरेजी राज्य को भारत में भेजा है और मद्रास ने ही मनुष्य देकर अँगरेजों को भारत में पैर जमाने में सबसे पहले सहायता दी है। मद्रास ऐसे कितने निःस्वार्थी और सच्चे युवक देने के लिए तैयार है, जो गरीबों के साथ सहानुभूति रखने के लिए, भूखों को अन्न देने के लिए और सर्वसाधारण में नवजागृति का प्रचार करने के लिए प्राण की बाजी लगाकर प्रयत्न करने को तैयार रहेंगे और साथ ही उन लोगों को

मानवता का पाठ पढ़ाने के लिए अग्रसर होंगे, जिन्हें तुम्हारे पूर्वजों के अत्याचारों ने पशुतुल्य बना दिया ?

तुम्हारा
विवेकानन्द

पुनश्च:——धीरता और दृढ़ता के साथ चुपचाप काम करना होगा। समाचार पत्रों के जरिये हल्ला मचाने से काम न होगा। सर्वदा याद रखना——नाम-यश कमाना अपना उद्देश्य नहीं है।

——वि०

♣

श्रीरामकृष्ण के चुटकुले

सबका स्वामी, कामिनी का दास !

किसी को नौकरी की तलाश थी। वह सुबह अपने घर से निकल जाता और सारा दिन नौकरी की खोज में भटकता रहता। रात में थका-हारा लौटता। कहीं से उसे पता चला कि अमुक दफ्तर में एक जगह खाली है। वह दफ्तर के बड़े बाबू के पास पहुँचा। बड़े बाबू ने उससे कहा, "अभी कोई जगह खाली नहीं है। पर हाँ, मुझसे बीच बीच में आकर मिलते रहना। अगर कोई जगह खाली हुई तो तुम्हें रख लूँगा।" और वह बेचारा महीनों उस दफ्तर के चक्कर मारता रहा, पर बड़े बाबू की उस पर कृपा न हुई।

एक दिन उस दफ्तर के पास उसे अपना एक पुराना मित्र दिख गया। वह लपककर अपने मित्र से मिला। मित्र ने उससे पूछा--"इधर कैसे?" उसने अपना दुखड़ा रोते हुए मित्र को सारी बात बतायी। मित्र बोला, "तुम भी कैसे बुद्धू हो! अभी तक मुझे बताया क्यों नहीं? वह बड़ा बाबू तो पूरा काइयाँ है, काइयाँ! तुम क्यों नाहक उसके पास आ-जाकर अपने जूते घिस रहे हो? तुम गुलाब-बी के पास चले जाओ। देखोगे, कल तुम्हें नौकरी मिल जायगी।" "अच्छा! ऐसी बात है?" उसने अचरज में भरकर कहा, "मैं अभी ही जाकर गुलाब-बी से मिलता हूँ।"

गुलाब-बी उस बड़े बाबू की रखैल थी। वह अपने मित्र से विदा ले तुरन्त गुलाब-बी के पास आया और उसे नमस्कार कर अपना दुखड़ा रोने लगा--"माताजी! मैं बड़ी विपत्ति में हूँ। आपकी सहायता के बिना मैं इससे नहीं निकल सकता। मैं एक गरीब ब्राह्मण का बेटा हूँ। मदद के लिए आपको छोड़ और किससे पास जाऊँगा, माँ? बहुत दिनों से मैं घर में खाली बैठा हूँ। काम ढूँढ़े नहीं मिल रहा है। घर में बूढ़े माता-पिता और छोटे छोटे बच्चे हैं। भूख से सबके मरने की नौबत आ गयी है, माँ! बच्चों का कलपना अब और देखा नहीं जाता। रह-रहकर भूख के मारे उनका चीखना अब सहा नहीं जाता। माताजी! आप ही हम सबको बचा सकती हैं। अगर आप एक जबान कह दें, तो मुझे नौकरी

मिल जाय और हम सबके प्राण बच जायँ !" उसकी आँखों में आँसू देख गुलाब-बी को तरस आ गयी। सोचने लगी, "बेचारा गरीब ब्राह्मण ! बड़े कष्ट में दिख रहा है। इसकी मदद जरूर करनी चाहिए।" फिर प्रकट में बोली, "बेटा ! किसको कहने से तुम्हारा काम बन जायगा ?" वह बोला, "माँ ! अगर आप बड़े बाबू से एक शब्द कह दें, तो अवश्य मुझे नौकरी मिल जायगी।" गुलाब-बी ने कहा, "ठीक है, आज मैं उनसे कहूँगी और तुम्हारा काम कर दूँगी।"

दूसरे ही दिन सुबह बड़े बाबू का एक आदमी उसे खोजते हुए उसके घर पहुँचा और उससे बोला, "तुम आज से ही बड़े बाबू के दफ्तर में काम करोगे ऐसा हुक्म हुआ है।" बड़े बाबू ने अपने अँगरेज अफसर के पास उसे ले जाकर कहा, "यह बड़े का काम आदमी है, सर ! बड़ा योग्य है। मैंने इसे नौकरी पर रख लिया है। अपनी फर्म के लिए यह बड़े लाभ का साबित होगा !"

✤

'नीतिसंगत' और 'नीतिविरुद्ध' की यही एकमात्र व्याख्या हो सकती है कि जो स्वार्थ पर है, वह 'नीतिविरुद्ध' है और जो निःस्वार्थ पर है, वह 'नीतिसंगत' है।

—स्वामी विवेकानन्द

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

१२. सत्संग मनोनिग्रह में बड़ा सहायक है

हमने कुछ विस्तार से इस पर विचार किया है कि मन पर नियंत्रण पाने के लिए उसमें गुणों के अनुपात को कैसे बदला जाय। यह शास्त्रों में उपस्थित एक प्रामाणिक पद्धति है। यदि उसका समुचित रूप से अभ्यास किया जाय, तो किसी को भी उसका फल प्रत्यक्ष हो सकता है।

फिर भी, ऐसे कई लोग होंगे जो अपनी प्रवृत्ति के कारण इतनी सूक्ष्मता के साथ अपनी भीतरी सँभाल नहीं कर पाते, या फिर वे जिस वातावरण में रहते हैं वह इस साधना के अभ्यास में अनुकूल नहीं पड़ता। तो क्या ऐसी कोई साधनापद्धति है जिसका अभ्यास अपेक्षाकृत सरल हो और जो पहिली के ही समान फल देनेवाली हो? हाँ, वैसी एक पद्धति है जिसका अभ्यास सरलता से हो सकता है और जो पहली की अपेक्षा अगर अधिक नहीं तो बराबर फल देनेवाली अवश्य है।

किन्तु इस अति सरल तरीके के सम्बन्ध में एक कठिनाई है। एक उदाहरण से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। ऐसे कुछ रोगी होते हैं, जो दीर्घकाल तक एक दुर्निवार व्याधि से त्रस्त रहने के कारण उस चिकित्सक पर सहसा विश्वास नहीं कर पाते, जो एक सरल निदान प्रस्तुत करता है। वे सम्भवतः यह समझते हैं कि

जटिल रोग का निदान भी अनुपात में जटिल ही होगा। ठीक यही बात इस सरल उपाय पर भी लागू होती है, जिसकी हम चर्चा करने जा रहे हैं; क्योंकि कुछ लोग इसे अति सरल मान लेते हैं।

उपाय है सत्संग। यह है तो सरल, पर अन्य उपायों से अधिक फलदायी है। श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं—

'जगत् में जितनी आसक्तियाँ हैं, उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्संग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँ तक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वश में करने में समर्थ नहीं हैं।' †

हमारी अधिकांश आसक्तियाँ हमारे स्वभाव में रजोगुण के आधिक्य के कारण हैं। जब हम किसी तत्त्वज्ञ साधु पुरुष के सान्निध्य में होते हैं तो उनकी पवित्रता के शक्तिमान् स्पन्दन हमारे भीतर घुस जाते हैं और हमारे मन के त्रिगुणात्मक उपादान में शीघ्र परिवर्तन ला देते हैं, जिससे उस समय के लिए सत्त्व की प्रधानता हो जाती है।

---

† न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥
—भागवत, ११।१२।१-२

सत्त्व की इस प्रधानता का लम्बे समय तक टिकना इस पर निर्भर करता है कि हम सत्संग कितनी मात्रा में करते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं——

'...संसारी मनुष्यों के लिए तो सदा ही साधु-संग की आवश्यकता है। यह सबके लिए है, संन्यासियों के लिए भी; परन्तु संसारियों के लिए विशेषकर यह आवश्यक है। रोग लगा ही हुआ है—कामिनी-कांचन में सदा ही रहना पड़ता है।' †

सत्संग मनोनिग्रह को सरल बना देता है। अतएव हमें उसके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। परन्तु जब सत्संग हमें उपलब्ध न हो सके तो क्या करना चाहिए ? तब तो हमें अपने ही साधनों पर निर्भर रहकर प्रणाली-बद्ध रूप से अध्यवसायपूर्वक आगे बढ़ चलना चाहिए। उपर्युक्त निर्देशों में से जो हमारे अनुकूल हों, उनका अनुसरण करते हुए हमें अपने मन में सत्त्वगुण की प्रधानता लानी चाहिए और अन्त में सत्त्व का शोधन कर उसे भी लाँघ जाने का उपाय सीखना चाहिए।

१३. सत्त्व का शोधन कैसे हो

वेदान्त के अनुसार, नित्य और अनित्य में सतत विवेक, अनित्य का त्याग और आत्मा के यथार्थ स्वरूप पर गम्भीर ध्यान के द्वारा सत्त्व का शोधन होता है। यहाँ पर मनःसंयम के लिए श्री शंकराचार्य का यह अप्रत्यक्ष निर्देश हमारे लिए सहायक होगा——

आत्मा-साक्षात्कार की इच्छा अनात्म-वस्तुओं की असख्य कामनाओं से ढक जाती है। जब सतत आत्मनिष्ठा के द्वारा वे

† श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृष्ठ ५२१।

कामनाएँ नष्ट होती हैं, तब आत्मा स्वयमेव अपने को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है।

ज्यों ज्यों मन प्रत्यगात्मा में अवस्थित होता है, त्यों त्यों वह बाह्य विषयों की वासना को त्यागता जाता है। और जब इस वासना का सर्वथा त्याग हो जाता है, तब आत्मा की निर्बाध अनुभूति होती है।

योगी का मन, अपने ही आत्मा में सदैव स्थित होने के कारण, नाश को प्राप्त होता है। उससे वासनाओं का क्षय होता है अतएव अपने अध्यास को दूर करो।†

मन के नाश का मतलब पागल हो जाना नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य है पूर्ण पावित्र्य। इस अवस्था में मन आत्मा से एक हो जाता है। जब पुरुष अपनी आत्मस्वरूपता को जान लेता है, तो फिर नियंत्रण करने को कोई मन नहीं रह जाता।

मनोनिग्रह करते समय हमें इस उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने का लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए। जब तक मन में एक से अधिक वासनाएँ बनी हैं या कहें कि आत्म-साक्षात्कार की वासना के अतिरिक्त अन्य वासनाएँ विद्यमान हैं, तब तक मनोनिग्रह कठिन होगा,

---

†अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना।
नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे भाति स्वयं स्फुटम्॥
यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुंचति बाह्यवासनाम्।
निःशेषमोक्षे सति वासनानामात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या॥
स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु॥
—विवेकचूड़ामणि, २७५-७७।

क्योंकि तब मन एक बिखरी हुई अवस्था में होगा। सभी चीजें जहाँ जाकर एक हो जाती हैं उस उच्चतम से यदि हम कुछ नीचे के लिए कोशिश करें, तो मन मानो विभक्त हो जाता है। विभक्त मन को वश में लाना कठिन होता है। दूसरे शब्दों में, जो लोग पूर्ण ज्ञान की अवस्था या आत्म-साक्षात्कार की अपेक्षा कुछ कम को पाने की कोशिश करते हैं, वे कभी भी अपने मन को पूर्णतया वश में नहीं कर सकते। उनके मन में आत्मज्ञान के अलावे और कोई वासना बनी रहती है और इसलिए वे वस्तुत: अविद्या को ही बनाये रखने का उपक्रम करते हैं। इस प्रकार मनोनिग्रह के लिए जो बातें आवश्यक होती हैं, उनकी पूर्ति में वे अपने को असमर्थ पाते हैं। वेदान्त में अशुद्ध मन को अविद्या से एकरूप बताया गया है। † अतएव, अविद्या को दूर करने के लिए जिन साधनाओं की आवश्यकता होती है, वे ही मनोनिग्रह पर भी लागू होती हैं। इनमें से विशेषकर एक साधना मन:संयम में बड़ी सहायक होती है। उसमें मन को शुद्ध करने की विशेष क्षमता होती है। इस साधना को वेदान्त की भाषा में 'स्वाध्यास-अपनय' कहते हैं। जो अज्ञान हमने स्वयं अपने ऊपर लाद लिया है उसे दूर करना और इस प्रकार अनात्म-वस्तुओं से अपने तादात्म्य को समाप्त कर देना।

आत्मा पर अध्यास कैसे हुआ और उसे दूर करने

† वही, १६९,१८०।

के उपाय क्या हैं, इस पर चर्चा करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं--

शरीर, इन्द्रियाँ आदि अनात्म-वस्तुओं के प्रति 'मैं' और 'मेरा' का भाव ही अध्यास है। बुद्धिमान् को चाहिए कि वह आत्मा से एकत्व की अनुभूति करता हुआ इस अध्यास को निरस्त कर दे।

अपनी बुद्धि और उसकी वृत्तियों के साक्षी अपने इस प्रत्यगात्मा को जानकर तथा 'सोऽहम्' इस सद्वृत्ति को सतत भीतर उठाते हुए अनात्मा के साथ अपने एकत्व को जीत लो।†

मनुष्य की सारी अशान्ति, तनाव और मानसिक समस्याओं का बस एक ही कारण है और वह है उसके यथार्थ आत्मा का अनात्मा से मिथ्या एकत्व। इसी से शरीर और इन्द्रियों आदि ‡ के प्रति 'मैं' और 'मेरे' की

---

† वही, २६८-६९।

अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया॥
ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम्।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्याऽनात्मन्यात्ममतिं जहि॥

‡ शंकराचार्य 'विवेकचूडामणि' में (३११) कहते हैं--'जो अपने को शरीर से एक मानता है, केवल वही इन्द्रिय-सुखों के लिए लालायित रहता है। किन्तु जिसकी देह-बुद्धि नष्ट हो गयी है वह भला पहले के समान इन्द्रिय-सुखों के लिए कैसे लालायित हो सकता है?'

तुलना कीजिए:--स्वामी विवेकानन्द कहते हैं--'इन्द्रियों को वश में करने का केवल एक उपाय है--उसका दर्शन करना, जो इस जगत् में सत्य है। बस, तभी हम सचमुच जितेन्द्रिय हो सकते हैं।' (विवेकानन्द साहित्य, खंड ४, पृष्ठ १०६)

भानना उपजती है। इन समस्त विकारों का निदान 'सोऽहम्' मंत्र की प्रयत्नपूर्वक साधना करना है। सोचो कि 'मैं आत्मस्वरूप हूँ'। सत्य पर केन्द्रित मन ही नियन्त्रित किया जा सकता है।

वेदान्त के अन्तर्गत, ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिस साधन-चतुष्टय † का अभ्यास किया जाता है, वह अभ्यास की प्रक्रिया में ही मनोनिग्रह की समस्या का समाधान करता जाता है।

मन को वश में करने के लिए उपर्युक्त साधन-चतुष्टय के साथ योग के अभ्यास को जोड़ देना अधिक सहायक होता है। अब हम इस योगाभ्यास पर विचार करेंगे।

१४. मनोनिग्रह के लिए योगाभ्यास

योग सम्बन्धी शास्त्र कहते हैं कि मन के निग्रह के लिए साधक को यम और नियम का अभ्यास करना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव)——ये यम ‡ कहलाते हैं।

---

† साधन-चतुष्टय यह है:——

१. 'नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेक'——नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेक। २. 'इह-अमुत्र-अर्थफलभोग-विराग'——इहलोक और परलोक में कर्मफल के उपभोग का त्याग। ३. 'शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा'——इस षट्क-सम्पत्ति को प्राप्त करने की चेष्टा। ४. 'मुमुक्षा'। [सदानन्द कृत 'वेदान्तसार', १५]

‡ पतंजलि कृत 'योग-सूत्र', २/३०।

शौच (अन्दर और बाहर की शुचिता) सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान——ये नियम † कहलाते हैं।

यह स्पष्ट है कि जो अभी अपने मन का स्वामी नहीं बना है, वह उपर्युक्त सभी यमों और नियमों का पालन नहीं कर सकता। तथापि इन साधनाओं के अभ्यास पर बल देने का भाव यह है कि साधक के समक्ष आदर्श हमेशा जगमगाता रहे जिससे पुरुषार्थ के द्वारा उसका आत्मबल बढ़ता रहे। महान् योगाचार्य पतंजलि कहते हैं——

मन की क्षोभहीन शान्ति निम्न गुणों के अभ्यास से प्राप्त होती है——

अ—जो सुखी हैं उनके साथ मित्रता।

आ—जो दुखी हैं उनके प्रति करुणा।

इ—शुभ में हर्ष।

ई—अशुभ के प्रति उपेक्षा। ‡

यह सूत्र व्याख्या की अपेक्षा रखता है। दूसरों के सुख में स्वयं सुख का अनुभव करने की वृत्ति एक अनुकूल मानसिक वातावरण का निर्माण करती है, जिसमें ईर्ष्या आदि के समान असदवृत्तियाँ नहीं रह सकतीं।

हृदय का संकोच एक विशेष तरह की अन्दरूनी अशान्ति को जन्म देता है। इसको हृदय के विस्तार के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। दुखी के प्रति करुणा का भाव हृदय के विस्तार का तरीका है। सक्रिय

---

†वही, ३२।

‡वही, ३३।

सहानुभूति का तात्पर्य होगा पीड़ितों की सेवा। समुचित दृष्टिकोण से की गयी सेवा हृदय की शुद्धि करती है। वह हृदय का विकास करती है, पूर्ण के साथ तादात्म्य की भावना को तीव्र बनाती है और हमारे अपने तंग दायरे से उत्पन्न होनेवाली कुण्ठा से हमें मुक्त करती है। इससे हमें आभ्यन्तरिक आनन्द की अनुभूति होती है।

यदि हम अपने को दुखी अनुभव करें, तो हमारे चारों ओर हमसे भी अधिक दुखी लोगों का अभाव न होगा। अतएव दूसरों के लिए हम कुछ करें। यदि हम और कुछ नहीं कर सकते, तो कम से कम उन लोगों के प्रति मित्रता का भाव ही पोषित करें और संसार के कल्याण के लिए आकुल होकर प्रार्थना करें। यह भी हमारी मदद करेगा।

हमें शुभ में हर्षित होना चाहिए। जब हम शुभ में हर्ष का अनुभव करते हैं, तो मनोवैज्ञानिक नियम यह है कि हम शुभत्व को अपने भीतर ले लेते हैं तथा शुभ के अन्य गुणों को आत्मसात् करते हैं। मन की निश्चंचलता के लिए यह शुभत्व सहायक होता है।

हमसे अशुभ के प्रति उपेक्षा बरतने के लिए कहा गया। निस्सन्देह, दुष्ट जनों को भला बना देना एक बहुत अच्छा कार्य है। पर यह महात्माओं और मसीहाओं का कार्य है--सामान्य व्यक्ति जो अपने ही मन के साथ संघर्ष कर रहा है, यह नहीं कर सकता। जब तक हमारा अपना मन अच्छी तरह नियंत्रित नहीं है, तब तक हमें

प्रयत्नपूर्वक दुष्ट संगति से दूर रहना चाहिए। केवल इसी प्रकार हम अपने मन को अशुभ की छूत से बचा सकते हैं। यदि हम अशुभ और दुष्टों के लिए अपने भीतर अधिक करुणा का अनुभव करते हैं, तो हम उनके मंगल के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। यह उनकी और हमारी दोनों की सहायता करेगा।

पर ये दुष्टजन कौन हैं? दुष्ट की जाँच कौन कर सकता है? इस पर एक लम्बा विवाद हो सकता है। तथापि सामान्य व्यवहार के लिए यह कहा जा सकता है कि जो लोग अनैतिक जीवन बिताते हैं, उन्हें दुष्ट माना जा सकता है।

एक ओर अशुभ संगति से दूर रहना मन के निग्रह के लिए जैसे निषेधात्मक ढंग से सहायक है, वैसे ही दूसरी ओर सत्संग अत्यन्त विधेयात्मक ढंग से हमारी मदद करता है। सत्संग पतित व्यक्ति की भी मानसिक अपवित्रताओं को दूर कर देता है। सन्त-महात्मा जन और शास्त्र यही कहते हैं। श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवत † में उपदेश प्रदान करते हुए कहते हैं कि सज्जनों का साथ समस्त आसक्ति को जड़ से काट देता है। मनोनिग्रह में हमारी आसक्तियाँ ही जबरदस्त बाधा हैं। जब आसक्तियाँ दूर होती हैं,तब द्वेष और भ्रम भी हमें सहज में छोड़कर चले जाते हैं—हम विवेक को प्राप्त करते हैं और हमारी सोचने-समझने की बुद्धि स्पष्ट हो जाती है। सत्संग के फलस्वरूप हमारे अनजाने ही भीतर में ये परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे मनोनिग्रह

† ११।१२।१ और ११।२६।२६

सम्भव हो जाता है ।

१५. विवेक का अभ्यास सहायक होता है ।

कुछ अवस्थाओं में हम कुछ बातें जान-बूझकर करते हैं--यह जानते हुए कि यही करना ठीक है । पर कुछ दूसरी अवस्थाएँ भी होती हैं जब हम उचित-अनुचित को बिना जाने आवेगपूर्वक कार्य करते हैं । पर इनमें से प्रत्येक दशा में हर कार्य अपना मधुर या कड़ुवा फल प्रदान करता है । गलत कार्य का, अन्य कष्टों के अतिरिक्त, एक फल यह भी होता है कि मन अत्यन्त विक्षुब्ध हो जाता है । उचित और अनुचित सम्बन्धी हमारा अज्ञान इस कष्ट से हमारी रक्षा नहीं कर सकता ।

अतएव मनोनिग्रह के लिए एक अनिवार्य बात यह जान लेनी चाहिए कि हम उचित और अनुचित में, शुभ और अशुभ में, नित्य और अनित्य में विवेक कैसे करें । जब विवेक करना हमारी आदत बन जाता है तब, हम स्वयं से पूछने लगते हैं--इससे क्या अच्छा होने का है ? यदि हमने इस बात की आदत बना ली कि हम वही करें जिसे हमारा विवेक अच्छा बतलाता है, तो उपर्युक्त अभ्यास गलत, आवेगपूर्ण और मूर्खता से भरी क्रियाओं के फल से उपजनेवाली मानसिक अशांति से हमारी रक्षा करेगा । विवेक का अभ्यास आत्मनिरीक्षण के अभ्यास के साथ ही साथ चल सकता है । यह आत्मविकास में सहायक होता है ।

विवेक के अभ्यास का एक दूसरा भी आयाम है, जो मनोनिग्रह को मौलिक रूप से सहायता प्रदान करता है ।

मनोनिग्रह की समस्या का सार सनक-सनन्दन आदि प्राचीन ऋषियों के द्वारा ब्रह्मा के समक्ष एक प्रश्न के रूप में रखा गया था:——

भगवान ! चित्त गुणों अर्थात् विषयों में घुसा ही रहता है और गुण भी चित्त की एक-एक वृत्ति में प्रविष्ट रहते ही हैं। अर्थात् चित्त और गुण आपस में मिले-जुले रहते है। ऐसी स्थिति में जो पुरुष इस संसार-सागर से पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनों को एक-दूसरे से अलग कैसे कर सकता है?

मूल समस्या तो आज भी वही की वही है। और जब तक विश्व का ढाँचा ऐसा रहेगा, तब तक समस्या भी वैसी ही बनी रहेगी। श्रीकृष्ण ने इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का जो प्रामाणिक उत्तर दिया है, उसका सार यों है:–

यदि मन जो इन्द्रिय-विषयों के साथ कर्ता और भोक्ता के रूप में जुड़ा है और जिसे बुद्धि, अहंकार आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, जोव की सत्ता होती, तो जीव और इन्द्रिय-विषयों के परस्पर सम्बन्ध का भले ही नाश नहीं हो सकता था; किन्तु जीव तो ब्रह्म से शाश्वत रूप से तद्रूप है और उसका इन्द्रिय-विषयों के साथ आपात्-सम्बन्ध उस पर मन के अध्यास के कारण है। अतएव अपने को ब्रह्म से एक जानकर और इन्द्रिय-विषयों की अनित्यता का विचार करते हुए साधक को उनसे दूर हट जाना चाहिए और भगवान् की उपासना करनी चाहिए, जिससे वह अपने यथार्थ अनन्त आमस्वरूप में अवस्थित हो सके ‡

(क्रमशः)

---

† गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः।।

——भागवत, ११।१३।१७।

‡ स्वामी माधवानन्द कृत 'दि लास्ट मेसेज ऑफ श्रीकृष्ण', अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९५६, पृष्ठ ११८-१९।

स्वामी विमलानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

यह सन् १८९०-९१ की बात होगी। कलकत्ता के रिपन कालेज में एफ. ए. का एक विद्यार्थी अपने अंग्रेजी के अध्यापक गुप्त महाशय को देखकर चकित था। कालेज के अन्य अध्यापक तो खाली समय में पान-तम्बाखू चबाते हुए आपस में दुनिया भर की बातें करते रहते थे। पर गुप्त महाशय न जाने किस काठी के बने हुए थे। थोड़ा-सा समय मिलते ही एकान्त में चले जाते और अपनी कापी निकालकर बहुत सोच-सोचकर जाने क्या लिखा करते। वह विद्यार्थी गुप्त महाशय पर प्रारम्भ से श्रद्धा करता था। वक्ष को छूती हुई उसकी धवल दाढ़ी उनके मुख को अतिशय गम्भीर बना देती थी। इसीलिए उसे यह पूछने का साहस नहीं हो पाता था कि वे क्या लिखा करते हैं। पर एक दिन साहस बटोरकर वह चला ही तो गया गुप्त महाशय के पीछे-पीछे। देखा कि गुप्त महाशय ने एक खाली कोने में कुर्सी लगा ली है और बड़े मनोयोग से कुछ लिख रहे हैं। वे लिखने में इतने तमन्य थे कि उन्हें भान नहीं हुआ कि उनका कोई विद्यार्थी उनके पीछे खड़ा है और उझक-उझककर उनके सुलेख को देख रहा है। हठात् उनका ध्यान टूटा और उन्होंने देखा कि एफ. ए. की कक्षा का उनका विद्यार्थी खगेन उनके पीछे खड़ा है। गुप्त महाशय की दृष्टि पड़ते ही खगेन सकुचा-सा

गया। उसे लगा कि उसने गुप्त महाशय की एकान्त-साधना में विघ्न डाल दिया है और अब उसे ताड़ना सुननी पडेगी। पर ताड़ना की बात तो दूर, गुप्त महाशय की आँखों में स्नेह का सागर उमड़ रहा था। उन्होंने प्रेमपूर्ण स्वर में पूछा, "कुछ कहना चाहते हो, खगेन ?" खगेन क्या कहेगा भला ? पर उसने कहा, "महाशय ! आप बहुधा एकान्त में बैठकर क्या लिखा करते हैं, यही जानना चाहता था।" गुप्त महाशय ने पूछा, "सुनोगे ?" खगेन की सहमति जानकर गुप्त महाशय ने पढ़ना शुरू किया। खगेन तृषार्थ भाव से एक-एक शब्द पी रहा था। अहा ! कितने विलक्षण हैं उसके अध्यापक श्री महेन्द्र नाथ गुप्त। ये ही तो 'म' के नाम से श्रीरामकृष्ण देव के भक्तों में प्रख्यात हैं. इन्होंने अपने चर्म-चक्षुओं से दक्षिणेश्वर के सन्त श्रीरामकृष्ण देव को देखा है, कानों से उनकी वह अमृतमयी वाणी सुनी है, जिसे सुरेन्द्र नाथ दत्त विरचित 'श्रीरामकृष्ण देवेर उपदेश' नामक पुस्तक में पढ़कर खगेन के हृदय में अपूर्व भावान्तर उपस्थित हुआ था।

इसके बाद से खगेन अपने मित्र कालीकृष्ण और सुधीर के साथ मास्टर महाशय के घर जाने लगा। घण्टों मास्टर महाशय के मुख से 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' सुनकर भी उसके प्राण तृप्त न होते। मास्टर महाशय भी अपने इन होनहार शिष्यों को अक्लान्त भाव से युगावतार के संस्मरण सुनाया करते। जब उन्हें यह

ज्ञात हुआ कि खगेन, कालीकृष्ण आदि विद्यार्थियों ने काकुड़गाछी स्थित योगोद्यान में श्रीरामकृष्ण देव की जयन्ती में भाग लिया था तथा अब उन लोगों पर ठाकुर की पूजा-अर्चना का भार सौंपकर राम बाबू निश्चिन्त हैं, तब उन्हें और भी प्रसन्नता हुई। इन किशोरों में भगवद्-भक्ति की वह्नि-शिखा को जलते देखकर वे आनन्द से भर उठे और कहा, 'देखो, ठाकुर तो थे कामिनी-कांचन-त्यागी। उन्हें ठीक ठीक जानने के लिए उनके कामिनी-कांचन-त्यागी शिष्यों का सत्संग करना होगा।" मास्टर महाशय ने ही खगेन आदि को बताया था कि भगवान् को पाने के लिए सर्वस्व का त्याग करना आवश्यक है। "उदाहरण देखना चाहते हो तो किसी दिन वराहनगर मठ में जाकर श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्यों को देखो।"और एक दिन सचमुच ही खगेन कालीकृष्ण के साथ पैदल ही वराहनगर मठ की ओर चल पड़ा। वहाँ उसने श्रीरामकृष्ण देव की लोकोत्तर सन्तानों के दर्शन किये। तितिक्षा और तपोपूत जोवन ने खगेन के मन-प्राणों को एक अवर्णनीय आकर्षण-पाश में बाँध लिया। अब तो खगेन बार बार वराहनगर मठ जाने लगा और श्रीराम-कृष्ण देव के संन्यासी-शिष्यों से उनका घनिष्ठ परिचय हो गया। वैराग्य-सूर्य की आभा से दमकते हुए संन्यासियों के चरणों में खगेन ने मन ही मन अपने आप को समर्पित कर दिया। उनके निश्छल स्नेह का आस्वादन कर वह गद्‌गद हो उठा।

सन् १८९२ के प्रारम्भ में खगेन अपने बाल्यबन्धु सुशील के साथ जयरामवाटी गया। श्रीमाँ सारदा देवी के पुनीत दर्शनों ने मानो उसे पूरी तरह बदल दिया। उसकी आध्यात्मिक विकलता देखकर श्रीमाँ ने उस पर कृपा की और उसे मन्त्र-दीक्षा प्रदान की। फिर तो खगेन एक नये भाव-प्रवाह में डूबने-उतराने लगा। सन् १८९२ में उसने एफ. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और बी. ए. की पढ़ाई प्रारम्भ की। उसका शरीर शुरू से ही दुर्बल था। सन् १८९४ में परीक्षा के पहले ही उसकी तबियत खराब हो गयी। अजीर्ण ने उसे बेहद कमजोर कर दिया। फलतः उसे पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। पर इसकी तनिक भी चिन्ता खगेन को नहीं थी। चिकित्सकों नें उसे घर पर रहकर स्वास्थ्य-लाभ करने का परामर्श दिया था। इससे उसे चिरवांछित आध्यात्मिक साधनाओं में पूरी तरह से लग जाने का सुयोग मिला। अब उसका समय ध्यान, जप और धर्म-प्रसंग में व्यतीत होने लगा। खगेन की दृढ़ धारणा थी कि सांसारिक सुखों का सर्वतोभावेन त्याग कर ईश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का परम कर्त्तव्य है। अतः उसने निष्ठापूर्वक अपनी आध्यात्मिक साधना प्रारम्भ कर दी। कालीकृष्ण और सुशील खगेन के प्रिय साथी थे। वे प्रायः खगेन के घर आकर ईश्वर-चर्चा किया करते। वराहनगर मठ से श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्य भी बीच बीच में खगेन का समाचार लेने पहुँच जाया करते।

दो वर्ष कैसे बीत गये इसका पता खगेन को नहीं चला।

इस बीच युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द की कीर्ति-कौमुदी सारे विश्व में फैल चुकी थी। शिकागो की सर्वधर्मपरिषद् में स्वामीजी ने वेदान्त की ओर सारे संसार का ध्यान आकृष्ट किया था। खगेन भी काली-कृष्ण आदि मित्रों के साथ उस पुनीत क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था, जब उसे स्वामीजी के दर्शनों का सौभाग्य मिलेगा। सन् १८९६ के अन्त अन्त में स्वामीजी के भारत लौटने के समाचार सुनायी पड़ने लगे और सारे कलकत्ते में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया कि स्वामीजी ६ फरवरी, १८९७ को सियालदह स्टेशन में उतरने वाले हैं। यह खगेन के लिए चिराकांक्षित घड़ी थी। यद्यपि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, फिर भी वह किसी भाँति सियालदह पहुँच गया। जिन्होंने उसके आध्यात्मिक जीवन को उद्दीपना दी है, जिनकी छबि को वह अपने अन्तर्नेत्रों से इतने वर्षों से देखता रहा है, वे जब साक्षात् उपस्थित हो रहे हैं, तब खगेन भला घर में कैसे रुक सकता था ? और खगेन ने उन्हें मात्र देखा ही नहीं, उनकी बग्घी को खींचा भी। स्वामीजी को जिस बग्घी से रिपन कालेज तक ले जाया जाना था, उसके घोड़ों को उत्साही नवयुवकों ने खोल दिया और स्वयं बग्घी को खींचकर ले चले। यह एक अपूर्व दृश्य था। स्वामी विवेकानन्द भारतीय नवजागरण के प्रतीक-पुरुष थे। उनकी बग्घी को नवजीवन की तरंगों से उच्छलित

नवयुवकों ने खींचकर यह सिद्ध कर दिया कि युगाचार्य की वाणी से दीप्त युवा-शक्ति के विनियोग से भारत में एक नये युग का विहान हो गया है। स्वामीजी के चरण ने नवप्रभात की वेला में सियालदह की भूमि का स्पर्श कर मानो यह आश्वस्त कर दिया कि भारतीय जीवनाकाश पर पराधीनता और नैराश्य का छाया हुआ अन्धकार अब समाप्तप्राय है।

रिपन कालेज के प्रांगण में स्वामीजी के स्वागत-समारोह का आयोजन किया गया था। खगेन समारोह के समाप्त होने पर घर लौटा और भोजन के तुरन्त बाद अपने मित्र सुधीर के साथ स्वामीजी के निवास-स्थान की ओर निकल पड़ा। युगाचार्य की मेघ-गम्भीर वाणी ने खगेन के हृदय में खलबली मचा दी थी। न जाने उस अपूर्व पुरुष के नेत्रों में कौन सा विमुग्धकारी आकर्षण था कि खगेन की आँखें निरन्तर उन्हें निहारते रहना चाहती थीं। उस समय स्वामीजी को पशुपति बसु के भवन में ठहराया गया था। यद्यपि उनके दर्शन के लिए लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी थी, पर स्वामी शिवानन्द जी ने जब खगेन और सुधीर को देखा तो उन्हें स्वामीजी के समीप ले गये और उनका परिचय देते हुए कहा, "ये लड़के आपके बड़े 'एडमायरर' (प्रशंसक) हैं।" स्वामीजी ने खगेन पर भरपूर दृष्टि डाली। कैसी अलौकिक थी वह दृष्टि! कैसी विमोहक और अपूर्व! स्वामीजी उस समय स्वामी योगानन्द से कह रहे थे,

"देख जोगे ! मैंने क्या देखा है, जानता है ? समस्त पृथ्वी में एक ही महाशक्ति क्रीड़ा कर रही है। हमारे बाप-दादाओं ने इसे धर्म के रूप में प्रकट किया था और पाश्चात्य देशवासी इसे महारजोगुण की क्रिया के रूप में अभिव्यक्त कर रहे हैं। वस्तुतः समस्त संसार में इसी एक महाशक्ति की अनेकमुखी क्रीड़ाएँ हो रही हैं।"

फिर स्वामीजी ने खगेन को देखते हुए कहा, "यह लड़का तो बहुत बीमार दिखता है।" तब शिवानन्द ने उन्हें बताया, "बहुत दिनों से क्रानिक डिसपेप्सिया का मरीज है।" इस पर स्वामीजी बोले, "हमारा बंग देश बहुत सेंटीमेंटल है न, इसीलिए यहाँ इतनी डिसपेप्सिया है।" खगेन मंत्रमुग्ध के समान स्वामीजी की ओर एकटक देखते हुए उनकी वाणी का पान कर रहा था। उनके एक-एक शब्द विद्युत्-तरंग की भाँति उसके हृदय का स्पर्श कर रहे थे। स्वामीजी के इस प्रथम दर्शन से हुए अनुभव का वर्णन करते हुए कालान्तर में उसने कहा था-- "स्वामीजी के प्रथम दर्शन से, उनके मुख की विलक्षण कान्ति और उनके तेजोद्दीप्त एवं स्निग्ध माधुर्यमय नेत्रों को देखकर मेरा हृदय तत्काल तुष्टि-रस से लबालब भर गया कि आज मैंने एक ऐसे महामानव के दर्शन किये हैं, जैसा पहले कभी नहीं देखा।" उस दिन स्वामीजी खगेन को अध्यात्म-ज्ञान और भक्ति की प्रोज्ज्वल वह्नि-शिखा के समान प्रतीत हुए थे, जिससे निकले हुए कुछ स्फुल्लिगों को खगेन ने भी ग्रहण किया था। उस दिन

एक भक्त ने स्वामीजी से पूछा कि उनका ठाकुर-विषयक कोई व्याख्यान अभी तक प्रकाशित क्यों नहीं हुआ ? इस पर स्वामीजी ने कहा था, "मैंने ही उसे प्रकाशित नहीं होने दिया। इसका कारण यह है कि मैं ठाकुर को ठीक ठीक समझ-समझा नहीं पाया। मेरे प्रभु ने कभी किसी की निन्दा नहीं की, किन्तु मैंने उनकी सन्तान होते हुए भी अपने भाषणों में अमरीकावासियों की कांचना-सक्ति की आलोचना की थी। अतएव मुझे लगा कि मैं उनके सम्बन्ध में कुछ भी बोलने के योग्य नहीं हूँ।" स्वामीजी की इस निरभिमालिता और महान् गुरु-भक्ति ने खगेन को पूर्णतया अभिभूत कर लिया। इस सम्बन्ध में उसने कालान्तर में कहा था, "ये शब्द हमें एकाधिक कारणों से विलक्षण लगे। हमने अपने-आप से कहा कि देखो, हम तो इन्हें अपना आदर्श समझते हैं; यही नहीं अनेकों तो इनकी पूजा करते हैं, पर ये अपने गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में अपनी अक्षमता प्रकट कर रहे हैं ! ये कितने निश्छल हैं ! इनके गुरु कितने अद्भुत रहे होंगे जिन्होंने इस महामानव के हृदय में इतना उच्च स्थान बना लिया है !"

युगाचार्य विवेकानन्द के प्रथम दर्शन-स्पर्शन ने ही खगेन को एक अदृश्य दुर्निवार शक्ति से बाँध लिया। वराहनगर, गोपाललाल शील की उद्यानवाटी, आलम-बाजार मठ और अन्यत्र जहाँ भी स्वामीजी के व्याख्यान हुए खबर पाने पर खगेन कहीं भी जाने से नहीं चूका।

उसके हृदय में भगवद्-दर्शन की एक व्याकुल तरंग उठने लगी। घर उसे काटने दौड़ता। उसके माता-पिता अपने पुत्र की इस भगवद्-विह्वलता को जानते थे और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनका पुत्र संसार का परित्याग कर विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द के पाद-प्रदेश में अपने जीवन-प्रसून को समर्पित करना चाहता है, तो उन्होंने भावविगलित कण्ठ से उसका पथ प्रशस्त करते हुए उसे हृदय से आशीर्वाद दिया। सन् १८९७ के मध्य में खगेन माता पिता को प्रणाम कर स्वामीजी के चरणों में पहुँचा और उन्होंने उसे अपने कृपा-कटाक्ष से स्वामी विमलानन्द बना दिया।

खगेन का पूरा नाम था खगेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय। उनका जन्म हावड़ा जिले के जगतवल्लभपुर थाने के अन्तर्गत बागाण्डा गाँव में एक निष्ठावान् ब्राह्मण-परिवार में सन् १८७२ ई० में हुआ था। उनके पिता श्रीयुत वेणीमाधव चट्टोपाध्याय बड़े ही धर्मप्राण एवं भगवद्भक्त थे। वे बाद में आन्दूल चले आये और फिर कलकत्ता के पटलडाँगा केथेड्रल मिशन लेन में मकान बनवाकर रहने लगे। उन्होंने रंगपुर के राजा गोविन्दलाल राय के राज्य में इंजीनियर के रूप में कार्यारम्भ किया था और बाद में उन्हें मैनेजर बना दिया गया। अनेक प्रकार के सांसारिक और राजकीय झमेलों में फँसे रहने के बावजूद वेणीमाधव की धर्मनिष्ठा अक्षुण्ण बनी रही। यदि कार्याधिक्य के कारण उन्हें सन्ध्या-वन्दन का समय

न मिलता, तो वे दिन भर उपवास रखते और काफी रात गये घर लौट कर पूजा-अर्चना करके ही जल ग्रहण करते। खगेन उनके दूसरे पुत्र थे। खगेन की माता भी बड़ी आचारनिष्ठ एवं भक्तिमती थीं। वे अपने पुत्र को संसारी नहीं बनाना चाहती थीं। प्रत्युत उनकी इच्छा थी कि खगेन धार्मिक जीवन व्यतीत करे। खगेन को माता-पिता के ये उदात्त गुण वंशानुक्रम से प्राप्त हुए थे, किन्तु इसके साथ ही उन्हें पिता के पक्ष से एक दुर्बल शरीर भी मिला था, क्योंकि उनके पिता शारीरिक दृष्टि से सशक्त नहीं थे।

खगेन की बुद्धि तीक्ष्ण थी और स्वभाव बड़ा मधुर था। अतः वे सहज रूप से अपने मित्रों को आकर्षित कर लेते थे। रिपन कालेज में पढ़ते समय खगेन के समानधर्मा साथियों का एक दल बन गया था। ये लोग समानरूप से दृढ़चरित्र एवं धर्मानुरागी थे। खगेन के मित्र कालीकृष्ण का एक उद्यान-भवन था। प्रायः वहीं इन किशोरों की मण्डली इकट्ठी होती और सब लोग समवेत रूप से भगवदीय चर्चा और साधनादि किया करते। खगेन जहाँ भी किसी साधु-संन्यासी के आगमन का समाचार पाते, उनके दर्शन को पहुँच जाया करते थे। खगेन के साथ प्रायः कालीकृष्ण और हरिपद भी रहा करते। ये दोनों भी कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के पट्ट शिष्य बने और स्वामी विरजानन्द एवं स्वामी बोधानन्द के नाम से परिचित हुए।

उन दिनों कलकत्ता में महिमा चक्रवर्ती का साधक के

रूप में बड़ा नाम था। उन्होंने काशीपुर में अपना साधक-चक्र स्थापित किया था तथा अनेक शिक्षित युवक उनके साधना-चक्र में जाया करते थे। महिमा बाबू ने श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन किये थे। उनके बाल लम्बे थे तथा वे शंखनाद और इकतारा के साथ ओंकार का गायन करते हुए साधना करते थे। उनसे प्रभावित होकर खगेन ने भी अपने बाल बढ़ा लिये और प्रातः-सन्ध्या धूप जलाकर, गैरिक वसन धारण कर, इकतारा और शंखनाद के साथ प्रणव-साधना करने लगे। इसी बीच उनका परिचय कर्त्ताभजा सम्प्रदाय के साधक नवोनचन्द्र राय से हुआ। नवीन बाबू कर्त्ताभजा सम्प्रदाय से सम्बद्ध होते हुए भी स्त्रियों को लेकर साधना नहीं करते थे। इस प्रकार अनेकानेक प्रभावों से युक्त खगेन की आध्यात्मिक साधना चल रही थी।

विभिन्न प्रकार के साधकों से मिलने और ध्यान-धारणा में लगे रहने के बावजूद खगेन की पढ़ाई में कोई बाधा नहीं पडी। सन् १८९० में उन्होंने विशेष योग्यता के साथ प्रवेशिका की परीक्षा उत्तीर्ण की और उन्हें पन्द्रह रुपये महीने की छात्रवृत्ति भी मिली। इसके उपरान्त उन्होंने रिपन कालेज में एफ. ए. की पढ़ाई शुरू की। इसी समय उनका परिचय कालीकृष्ण, सुधीर, हरिपद, सुशील आदि समवयस्क सहपाठियों से हुआ, जिनके साहचर्य म उनकी धार्मिकता ने एक सुनिर्दिष्ट दिशा ग्रहण की। इस काल की गतिविधि का उल्लेख करते हुए कालीकृष्ण ने परवर्ती जीवन में कहा था, "प्रतिदिन कालेज के बाद हम

लोग इकट्ठा होते और काफी रात तक बड़ी रुचि से धर्म चर्चा किया करते। हमारे दल के प्रत्येक व्यक्ति की यही कामना थी कि धर्मानुभूति कैसे हो। हम सब खगेन के प्रेम, उसकी बुद्धि और उसके परामर्श को देखकर उसके प्रति आकृष्ट थे। यद्यपि उस समय हमें धर्म के बारे में बहुत थोड़ा ही मालूम था, फिर भी हम जितना जानते थे उतनी चेष्टा भी करते थे। हमें जैसा अच्छा लगता, वैसा ही ध्यान-जप आदि करते थे।"

खगेन को कालीकृष्ण के घर पर सुरेशचन्द्र दत्त संकलित 'श्रीरामकृष्णदेवेर उपदेश' और रामचन्द्र विरचित 'श्रीरामकृष्ण देवेर जीवनी' ये दो पुस्तकें पढ़ने को मिली थीं। इन्हीं पुस्तकों के माध्यम से वे युगावतार के जीवन और उपदेश से परिचित हुए थे। श्रीरामकृष्ण देव के लोकोत्तर जीवन और उनकी महान् धर्म साधना से खगेन, कालीकृष्ण, सुधीर तथा अन्य मित्रगण बड़े प्रभावित हुए थे। एक दिन खगेन कालीकृष्ण और सुधीर के साथ दक्षिणेश्वर भी गये और सारी रात पंचवटी में ध्यान करते रहे। खगेन के जीवन में आध्यात्मिकता की आँधी-सी आ गयी। वे सर्वतो-भावेन ईश्वर को प्राप्त करने में लग जाना चाहते थे। कालीकृष्ण की मनोदशा भी ऐसी ही थी। वैराग्य-भाव के प्रबल होने पर खगेन ने कालीकृष्ण के साथ संसार त्यागकर हिमालय जाने का विचार किया, जहाँ वे पूरी तरह से ईश्वरोपलब्धि की साधना में लग सकें।

खगेन ने संसार-त्याग का एक दिन निश्चित किया और निर्दिष्ट समय पर कालीकृष्ण खगेन के घर पहुँच गये। दोनों मित्र रात्रि व्यतीत होने की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि न जाने कैसे खगेन के पड़ोसी को उनकी योजना का पता चल गया। वे खगेन को बुलाकर कहने लगे, "देखो, मुझे दैवी संकेत से यह ज्ञात हुआ है कि तुम संसार-त्याग करने को उद्यत हो, किन्तु यदि तुमने अभी ऐसा कुछ किया तो तुम्हारा महान् अमंगल घटित होगा।" खगेन अपने इन पड़ोसी महाशय पर बड़ी श्रद्धा करते थे, क्योंकि वे प्रख्यात धार्मिक नेता श्री विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य थे तथा खगेन को उनकी धार्मिकता पर बड़ा विश्वास था। और इस प्रकार खगेन और कालीकृष्ण का गृह-त्याग रुक गया।

इसी समय खगेन को सूचना मिली कि काकुड़गाछी के योगोद्यान में भगवान् श्री रामकृष्णदेव का जयन्ती-महोत्सव मनाया जाने वाला है तथा रामचन्द्र दत्त उसके संयोजक हैं। खगेन ने तत्काल दत्त महाशय के घर का पता लगाया और यहीं उनका परिचय श्रीरामकृष्णदेव के अन्य भक्तों से हुआ। राम बाबू खगेन और कालीकृष्ण की आध्यात्मिक रुझान का परिचय प्राप्त कर बड़े प्रसन्न हुए और उनसे बार-बार मिलते रहने को कहा। महोत्सव में खगेन और कालीकृष्ण ने बड़े उत्साह से भाग लिया। फिर तो कालीकृष्ण के साथ खगेन प्रति शनिवार और रविवार काकुड़गाछी के योगोद्यान में

पहुँच जाया करते। राम बाबू बड़े स्नेह से इन्हें ठाकुर की अनेक बातें बताया करते। बाद में तो राम बाबू ने खगेन और कालीकृष्ण पर ही ठाकुर की पूजा-अर्चना का भार सौंप दिया था।

खगेन और कालीकृष्ण इस प्रकार एक नवीन आध्यात्मिक साधना के पथ पर बढ़ चले। महेन्द्रनाथ गुप्त ने इसे और भी वर्धित किया; भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्यों ने उन्हें ईश्वर-प्रणिपात और कर्मठ भक्ति की शिक्षा दी और सर्वोपरि, युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने इन्हें संन्यास के अग्नि-मंत्र में दीक्षित कर स्वामी विमलानन्द और स्वामी विरजानन्द बना दिया।

विमलानन्द का जीवन ज्ञान और कर्म का अद्भुत समन्वय था। स्वामी विवेकानन्द ने अपने इस शिष्य के आध्यात्मिक उन्नयन में बड़ी रुचि ली थी तथा अनेकानेक निर्देश दिये थे। इन्हीं निर्देशों के अनुरूप विमलानन्द जप, ध्यान, शास्त्र-चर्चा और नानाविध सेवा-कार्यों में लग गये। उन्होंने स्वामी तुरीयानन्दजी से वेदान्त का अध्ययन किया। रुग्ण और पीड़ित गुरुभाइयों की शय्या के समीप उपस्थित रहकर उनके पथ्यादि की व्यवस्था करना विमलानन्द का प्रिय कार्य था। सन् १८९९ में बेलुड़ मठ की स्थापना हो चुकी थी तथा अन्य स्थानों में भी प्रचार-केन्द्र खोले जा रहे थे। मायावती, अल्मोड़ा में अद्वैत आश्रम की स्थापना की गयी थी तथा वहाँ से अंग्रेजी भाषा में 'प्रबुद्ध भारत' नामक मासिक का

प्रकाशन आरम्भ हो गया था। विमलानन्द को विरजानन्द के साथ वहाँ का कार्यभार सम्हालने भेजा गया। विमलानन्द की अंग्रेजी बड़ी सुन्दर और ओजपूर्ण थी तथा उन्हें इस भाषा पर आसाधारण अधिकार था। उस समय स्वामी स्वरूपानन्द 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक थे। अद्वैत आश्रम का प्रबन्ध स्वामी विवेकानन्द के प्रख्यात विदेशी शिष्य कैप्टन सेवियर देखते थे तथा उन्हीं के प्रचुर अर्थदान से अद्वैत आश्रम की स्थापना की थी। विमलानन्द कैप्टन सेवियर के सहकारी बने और रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रचार में लग गये। कैप्टन सेवियर के देहत्याग के उपरान्त सारा प्रबन्ध देखने का भार उन पर आ गया। इस बीच जब स्वामी विवेकानन्द मायावती गये थे तो विमलानन्द को कुछ दिनों तक गुरु-सेवा का दुर्लभ संयोग मिला था। स्वामीजी अद्वैत आश्रम को अद्वैत की साधनास्थली का रूप देना चाहते थे, पर उन्होंने देखा कि विमलानन्द ठाकुर की छबि स्थापित कर नियमित-पूजा-अर्चना करने लगे हैं। यद्यपि स्वामीजी ने प्रत्यक्ष में विमलानन्द को कुछ नहीं कहा, पर विमलानन्द समझ गये कि स्वामीजी इससे सहमत नहीं हैं। तब उन्हें मानसिक द्वन्द्व से गुजरना पड़ा। इसके समाधान के लिए उन्होंने श्रीमाँ सारदा देवी को एक पत्र लिखा, जिसके उत्तर श्रीमाँ ने उन्हें समझाते हुए लिखा, "हमारे जो गुरु हैं, वे अद्वैतवादी हैं। तुम भी उन्हीं के शिष्य हो, इसलिए तुम भी अद्वैतवादी हुए। मैं जोर

देकर कह सकती हूँ कि तुम अद्वैतवादी हो।" श्रीमाँ के इस कृपापूर्ण प्रबोधन से विमलानन्द के सारे संशय छिन्न-भिन्न हो गये और वे स्वामी विरजानन्द एवं अन्य गुरु-भाइयों के साथ अद्वैत-भाव की साधना में निर्द्वन्द्व होकर लग गये।

श्रीमाँ की कृपा से विमलानन्द के समक्ष युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश का वास्तविक मर्म उद्घाटित हुआ था और वे उन्हें अधिक गहराई से समझ सके थे। उन्होंने स्वामीजी के नवयुगप्रवर्तक विचारों की अपार व्यंजनाशक्ति का अनुभव किया था और उनके लोकोत्तर आदर्श की व्याख्या करते हुए कहा था, "स्वामीजी की समग्र शिक्षा का सार आत्मतत्त्व या मनुष्य के देवत्व का उद्बोधन है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यही स्वामीजी की आश्चर्यजनक उदार प्रकृति का रहस्य है। वे ज्ञानी थे और इसलिए वे विश्वप्रेमिक भी थे। मुझे स्पष्ट कर देना चाहिए कि बहुत दिनों तक मेरी यह धारणा थी कि ज्ञान और भक्ति परस्पर-विरोधी धारणाएँ हैं, किन्तु स्वामीजी की कृपा से यह भ्रम उसी प्रकार दूर हो गया, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार विलीन हो जाता है। स्वामीजी महान कर्मयोगी थे, क्योंकि वे एक साथ ही भक्त और ज्ञानी थे। जो महाशक्ति समस्त विश्व को आलोड़ित करती हुई उठ रही है और आज भी शत शत निद्रित आत्माओं की अन्तर्निहित देवसत्ता को जागृत कर रही है, जो मृत अस्थियों में जीवन-चेतना का संचार

कर रही है, जो हताशा के अन्धकार में सूर्य का प्रकाश विकीर्ण कर रही है, जो क्षुब्ध और ऊसर प्राणों में प्रेम का सिंचन कर रही है, उस शक्ति के मूल में सर्वभूतों में ब्रह्म का दर्शन प्रतिष्ठित है। मैं यह बात भी स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि कर्म को ज्ञान और भक्ति का विरोधी मानना सर्वनाशी भ्रान्ति है। मेरी यह भ्रान्ति स्वामीजी के जीवन-स्पर्श से क्षण मात्र में लुप्त हो गयी।"

सन् १९०१ के जाड़े में विमलानन्द धर्मप्रचार के लिए मायावती से उतरकर प्रयाग आये। यहाँ उन्होंने अंग्रेजी में वेदान्त पर दो व्याख्यान दिये जो बहुत प्रशंसित हुए। लोगों ने उनकी वक्तृता से प्रभावित हो वेदान्त-प्रचार के लिए वहाँ एक केन्द्र स्थापित करने का अनुरोध भी किया, किन्तु उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, फलतः जाड़े के अन्त में वे पुनः मायावती लौट गये। कठिन परिश्रम के कारण उनकी देह टूटती जा रही थी। अन्त में चिकित्सकों के परामर्श पर उन्हें मठ आना पड़ा। यहाँ से वे वाल्टेयर गये। समुद्रतटीय जलवायु से उनके स्वास्थ्य में द्रुतगति से सुधार होने लगा। फिर वे मद्रास चले गये। रामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने बड़े स्नेहपूर्वक उनकी देखभाल की। यहाँ उन्होंने शीघ्र ही आरोग्य-लाभ किया। तब बँगलौर में भी मठ की एक शाखा स्थापित हो चुकी थी और स्वामी आत्मानन्द वहाँ के अध्यक्ष थे। कठिन परिश्रम के फलस्वरूप आत्मानन्दजी का स्वास्थ्य भी टूट रहा था। यह जानते ही,

स्वयं पूर्णतया स्वस्थ न होने के बावजूद, विमलानन्द बँगलौर चले आये और अपने गुरुभाई को सब प्रकार का सहयोग देने लगे। इस परिश्रम से उनका सुधरता हुआ स्वास्थ्य नष्ट हो गया और उन्हें बाध्य होकर मद्रास लौटना पड़ा। अब वे स्वामी रामकृष्णानन्दजी के कठोर संरक्षण में थे। उनकी शुश्रूषा से वे पुनः स्वास्थ्य-लाभ करने ही लगे थे कि उन्हें एक अनपेक्षित आघात भोगना पड़ा। उन्हें समाचार मिला कि उनके गुरुभाई स्वामी स्वरूपानन्द ने नैनीताल में देह छोड़ दी है। इस आघात को वे नहीं सह सके और उनकी तबीयत फिर से खराब हो गयी, किन्तु अपनी भगवद्भक्ति एवं प्रचण्ड आत्मविश्वास के आलम्बन से उन्होंने अपने आपको संयत किया। विश्वास की इस अप्रतिहत शक्ति के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए वे कहा करते थे—"विश्वास न तो भावुकता का कोई आकस्मिक उच्छ्वास है, न बुद्धिमत्ता की कोई चमक। ये सब तो जीवन के कठिन संघर्ष-क्षणों में कपूर के समान उड़ जाते हैं। यथार्थ विश्वास हृदय के सबसे गहरे प्रदेश में अटल शक्ति के रूप में अवस्थित होता है। यह सुदीर्घ नीतिपरायणता का फल है। जीवन की बदलती घटना के बीच भी विश्वाससम्पन्न व्यक्ति के प्रत्येक विचार और कार्य में इसकी अभिव्यक्ति होती है। मन-वाणी से परे ब्रह्मसत्ता पर जिसका जितना विश्वास होता है, उसी परिमाण में उसका जीवन मूल्यवान् होता है। विश्वास के बल से असम्भव भी सम्भव बन जाता है।" विमलानन्द के

जीवन में मानो यह विश्वास मूर्तिमन्त हो उठा था।

कुछ आरोग्य-लाभ करने के उपरान्त विमलानन्द मठ लौट आये। अमेरिका के न्यूयार्क और सैनफ्रांसिस्को से निरन्तर उन्हें प्रचार-कार्य के लिए आमंत्रण मिल रहा था, पर जीर्ण स्वास्थ्य के कारण उनका जाना सम्भव नहीं हो सका। वे अब रुग्ण थे, पर चुपचाप शय्या में लेटे नहीं रह सकते थे। उन्होंने मठ के बहुविधि कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। इस बीच उन्होंने 'बेहाला हितकारी सभा' में कुछ व्याख्यान दिये, जिनकी बड़ी प्रशंसा हुई। वे आन्दूल में आयोजित श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव में भाग लेने भी गये। सन् १९०७ में वे मायावती चले आये। उस समय स्वामी विरजानन्द अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष थे तथा स्वामी विवेकानन्द के 'समग्र साहित्य' के सम्पादन-प्रकाशन में व्यस्त थे। विमलानन्द भी इस महान् कार्य में जुट गये। सन् १९०७ के अक्तूबर से उन्हें थोड़ा थोड़ा ज्वर रहने लगा। चिकित्सकों ने उन्हें पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक विश्राम की सलाह दी। विरजानन्द भी उनकी शुश्रूषा के प्रति सचेष्ट रहे, फिर भी विमलानन्द को निश्चेष्ट पड़े रहना स्वीकार नहीं था। वे सर्वदा किसी न किसी कार्य में लगे ही रहना चाहते। बाधा डालने पर कहा करते, "यह तो निश्चित है कि मेरी देह अब और अधिक नहीं टिकेगी। इसलिए यदि मुझसे तुम्हारी कुछ सहायता हो सकती है, तो वह मैं क्यों न करूँ? यदि इससे मेरे मन को सन्तोष और आनन्द

मिलता है, तो तुम मुझे बाधा क्यों देते हो ?"

विमलानन्द अपूर्व सेवाभावी और कर्मठ थे। उनकी उच्च आध्यात्मिक और अथक कर्मठता की ओर सभी विस्मय से निहारते रहते। दीर्घकालीन रोग ने उनके शरीर को भले ही खोखला बना दिया था, पर उनका हृदय सदैव प्रफुल्लित रहता तथा उनके मुख पर निरन्तर हास्य की आभा खेलती रहती। असह्य वेदना का कोई भी चिह्न उनके मुख पर दिखायी नहीं पड़ता था। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि "रोग शोक तो देह के धर्म हैं।" मैं देह नहीं हूँ। मैं तो अनन्त आनन्दरूप आत्मा हूँ।" यद्यपि वे जानते कि शरीरपात सन्निकट है, पर उनका चित्त लेशमात्र भी चंचल नहीं था। देहत्याग के एक सप्ताह पूर्व उन्होंने हठात् कहा था कि "अब और अधिक दिनों की देरी नहीं है। पर मेरा शरीर प्रत्यूष में जायगा, रात्रि में नहीं।" इसके बाद से उनके स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक रूप से सुधार होने लगा। २३ जुलाई, सन् १९०८ ई० की रात्रि तक उनकी दशा अच्छी रही, किन्तु चार बजे महानिद्रा ने उनकी पलकों पर उतरना आरम्भ किया। श्री गुरुदेव से मिलन के इस अपूर्व क्षण में उनका मुखमण्डल ब्रह्मतेज से दीप्त हो उठा। इधर प्राची में सूर्य की प्रथम रश्मियों की क्रीड़ा प्रारम्भ हुई ही थी कि विमलानन्द के अधरों से 'ॐ ॐ ॐ' की ध्वनि उच्चरित हो उठी और वे महासमाधि में लीन हो गये।

❧

केहि अति दीन पियारे ?

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

रामचरितमानस में गोस्वामीजी लिखते हैं--

मन करि विषय अनल बन जरई।
होइ सुखी जौं एहिं सर परई।।
लीला सगुन जो कहहिं बखानी।
सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई।
सोइ मधुरता सुसीतल ताई।।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
बरनब सोइ बर बारि अगाधा।।

रामचरितमानस एक सरोवर है, जो रामसुयश-रूपी जल से भरा है। मनरूपी हाथी विषयरूपी दावानल में जल रहा है, वह यदि इस सरोवर में आ पड़े तो सुखी हो जाय। यह जल निर्मल-स्वच्छ है, मधुर और शीतल है, गहरा है। स्नान करनेवाला व्यक्ति इन सभी बातों को देखता है--वह देखता है कि जल गहरा है या नहीं, मधुर और शीतल है या नहीं, स्वच्छ-निर्मल है या नहीं। रामचरितमानस में भगवान् की सगुण-साकार लीला का जो वर्णन है, वही जल की स्वच्छता है। उसमें जिस अवर्णनीय प्रेम और भक्ति का आख्यान है, वही जल की मधुरता और शीतलता है। श्रीरघुनाथजी की निर्गुण और

अखण्ड एकरस महिमा का जो वर्णन होने जा रहा है, वही इस सुन्दर जल की अथाह गहराई है।

गोस्वामीजी से पूछा गया— 'अच्छा, शंकरजी ने भगवान् राम के चरित्र से गहराई को लिया, काकभुशुण्डि ने शीतलता और मधुरता का ग्रहण किया, याज्ञवल्क्यजी ने स्वच्छता ली। आपने क्या लिया ?' गोस्वामीजी ने उत्तर दिया—'मैंने लिया नहीं, वरन् उन्हें दिया।' यह एक विचित्र-सी बात लगती है कि अन्य लोगों ने तो भगवान् से लिया, पर इन्होंने दिया। उनसे पूछा गया—'आपने क्या दिया ? क्या भगवान् में भी कोई कमी थी, जो आपको देना पड़ा ?' गोस्वामीजी ने कहा—'हाँ, कमी थी और मैंने उसे पूरा किया।' ये भक्त लोग कुछ ऐसी बातें कह देते हैं, जो बड़ी अटपटी लगती हैं। उनसे और पूछा गया— 'भगवान् में आपने ऐसी कौनसी कमी देखी जो आपको पूरी करनी पड़ी ?' गोस्वामीजी ने कहा— 'भगवान् के चरित्र में और सब गुण थे, केवल एक गुण नहीं था। उनमें जल की शीतलता थी, मधुरता थी, गहराई और स्वच्छता थी, केवल हल्कापन नहीं था। इन गुणों के साथ जल को हल्का भी होना चाहिए, नहीं तो जल नहीं पचता। और यह हल्कापन मुझमें था। सो मैंने कहा— महाराज ! मुझमें और कोई गुण नहीं है, केवल एक हल्कापन है। आपके चरित्र में और सब गुण हैं, पर हल्कापन नहीं है। इसलिए आप अपने चरित्र में मेरी इस लघुता और हल्कापन को और जोड़ लीजिए,

तो आपका भी चरित्र पूर्ण हो जायगा और मेरी लघुता भी सार्थक हो जायगी।'

गोस्वामीजी से पूछा गया--'आप भगवान् राम का चरित्र लिखते लिखते अपने विषय में क्यों लिखने लग जाते हैं कि मैं बड़ा बुरा हूँ, दीन हूँ, तुच्छ हूँ?'

गोस्वामीजी ने कहा--'इसलिए कि ये ही तो मेरे गुण हैं, और यही सब मैंने प्रभु को दिया है--

आरति बिनय दीनता मोरी।
लघुता ललित सुबारि न थोरी॥

मेरी जो दीनता, तुच्छता और लघुता थी, उसे मैंने रामचरितमानस में प्रभु के चरित्र में जोड़ दिया। मेरी यह दीनता और लघुता, मेरा हल्कापन सब व्यर्थ था, पर प्रभु की गुरुता से जुड़कर मेरा यह हल्कापन भी सार्थक हो गया।' तभी तो यह मानस-जल इतना हल्का है कि शीघ्र पच जाता है और लाभ पहुँचाता है।

पुरातन परम्परा से भगवान् के पास जाने के ज्ञान, भक्ति और कर्म के तीन मार्ग चले आ रहे हैं। पर गोस्वामीजी एक चौथे ही रास्ते से उनके पास जाते हैं। उनसे पूछा गया--'आप किस मार्ग से भगवान् के पास गये-- ज्ञान के या भक्ति के अथवा कर्म के मार्ग से?'

उन्होंने कहा--'मैं तो तीनों ही मार्गों से निकाल दिया गया।'

--'क्यों?'

--'करमठ कठमलिया कहै ज्ञानी ज्ञान-बिहीन।

कर्मकाण्डियों ने यह कहकर निकाल दिया कि यह माला-धारी कर्म का रहस्य क्या जानेगा ? वेदान्तियों के पास गया तो वे बोले—- यह आँसू बहानेवाला वेदान्त की बात क्या समझेगा ?'

—'तो क्या भक्तों ने भी आपको निकाल दिया?'

—'निकाला तो नहीं, पर मेरा साहस ही नहीं हुआ कि मैं उनकी पाँत में जाऊँ ।'

—'क्यों भला, आपको साहस क्यों नहीं हुआ ?'

—'इसलिए कि भक्तों के जो लक्षण हैं, वे तो मुझमें हैं नहीं ।'

—'तो फिर क्या आपनें भगवान् को नहीं पाया ?'

—'पाया ।'

—'कैसे ?'

—'चौथे उपाय से ।'

—'वह चौथा उपाय क्या है ?'

—'तुलसी त्रिपथ बिहाइगो राम दुआरे दीन । ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों मार्गों को छोड़कर जब मैंने दीनता का मार्ग पकड़ा, तो प्रभु के पास पहुँच गया ।'

—'इस मार्ग से लाभ क्या ?'

—'जब ज्ञानी भगवान् के निकट पहुँचता है, तो भगवान् उसकी परीक्षा लेते हैं कि इसका ज्ञान पूर्ण है अथवा नहीं । जब भक्त भगवान् की शरण में जाता है, तो भगवान् उसकी भक्ति की परीक्षा लेते हैं । उसी प्रकार कर्मी की भी परीक्षा होती है कि उसने कर्म का ठीक ठीक पालन किया या

नहीं। लेकिन जब दीन भगवान् के पास पहुँचता है, तो वह पहले ही कहता है--प्रभो ! परीक्षा तो उसकी ली जाती है, जो उसमें उत्तीर्ण होना चाहता है। इसलिए मैंने उनसे कहा कि प्रभो! मैं न तो ज्ञानी हूँ, न भक्त हूँ और न कर्मी ही हूँ।'

भगवान् ने पूछा--'अगर तुम तीनों ही नहीं हो, तो तुम्हारी परीक्षा किसमें लें ?'

--'मैंने कहा--महाराज ! किसी में नहीं।'

--'अगर परीक्षा नहीं देनी थी, तो फिर आये ही क्यों ?'

—'महाराज ! मैं परीक्षा देने नहीं आया। मैं तो परीक्षा लेने आया हूँ। मुझमें कोई योग्यता नहीं है और मैंने सुना है कि आपके यहाँ अयोग्यों को भी शरण मिल जाती है, इसलिए मैं परीक्षा लेने आया हूँ कि जो बात मैंने सुनी है, वह ठीक है या नहीं !'

अतएव जो दीन है, वह भगवान् की परीक्षा लेता है। मानस में एक मधुर बात आती है। इन्द्र का पुत्र जयन्त कौए के रूप में किशोरीजी के चरणों पर प्रहार कर देता है। भगवान् राघवेन्द्र देखते हैं कि किशोरीजी के चरणों से रक्त बहने लगा। वे सींक का बाण जयन्त पर छोड़ देते हैं। यह सींक आयी कहाँ से ? जानकीजी के लिए फूलों को गूँथकर आभूषण बनाने हेतु भगवान् यह सींक ले आये थे। इस सींक से भगवान् ने गहना बनाया और इसी से धनुष और बाण भी। इसका

तात्पर्य क्या ? भगवान् एक मामूली-सा संकेत देते हैं कि मेरे पास दो प्रकार की वस्तुएँ नहीं हैं; ऐसी बात नहीं कि मेरे पास कोई कठोर वस्तु हो और कोई कोमल। मेरे पास एक ही तत्त्व है। एक ही सींक है। वही जानकीजी के लिए आभूषण बनाती है और वही जयन्त के लिए काल-स्वरूप हो जाती है। व्यक्ति का अन्तःकरण जैसा होता है, भगवान् उसे वैसे ही प्रतीत होते हैं। किसी को वे कोमल लगते हैं, तो किसी को कठोर। जिसके अन्तःकरण में मलिनता है, उसे वे कठोर प्रतीत होते हैं और जिसका अन्तःकरण प्रेम से परिपूर्ण है, सद्भावयुक्त है, उसे वे कोमल मालूम पड़ते हैं। तभी तो भगवान् अपने धनुष-बाण को छोड़ सींक के धनुष-बाण का उपयोग करते हैं। यह साधारण धनुष-बाण नहीं है जिसे आप जंगल में अनेक लोगों के हाथों में देखते हैं। यह तो रामायण का एक बड़ा दार्शनिक संकेत है। लंकाकाण्ड में गोस्वामीजी भगवान् के इस धनुष-बाण की व्याख्या करते हुए बतलाते हैं--

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु को दंड ॥

--यह काल ही भगवान् का धनुष है और समय है बाण। ईश्वर के हाथ में काल शक्ति के रूप में विराजमान है तथा उस काल-रूप धनुष पर समय का बाण निरन्तर चल रहा है। इसी के द्वारा संसार के जीव समाप्त हो रहे हैं। काल के दो भाग हैं--एक चल काल और दूसरा अचल काल। बाण चलता है और धनुष अचल है। धनुष

भगवान् के हाथ में स्थित है और बाण चलायमान है। जयन्त जहाँ भी जाता है, भगवान् का बाण पीछे लगा रहता है। इस सर्वत्र गतिशील समय के द्वारा ही लोगों का जीवन निर्धारित हो रहा है। उसी के द्वारा विनाश और सृष्टि का क्रम चला हुआ है। भगवान् के हाथ में जिस अस्त्र की—धनुष-बाण की—कल्पना की गयी, वह भी सांकेतिक है। हथियार दो प्रकार के होते हैं—अस्त्र और शस्त्र। अस्त्र वह है जो फेंककर मारा जाता है; जैसे, भाला, बर्छी आदि। और शस्त्र वह है जो हाथ में लेकर लड़ा जाता है; जैसे, तलवार, फरसा आदि। बाण के रूप में अस्त्र की कल्पना का अभिप्राय यह है कि यह दूर से दूर स्थित व्यक्ति को भी मार सकता है। यह सर्वव्याप्त है। तात्पर्य यह कि आप चाहे मृत्युलोक में रहें अथवा अन्य किसी लोक में, काल की गति सदैव चलती रहेगी। एकमात्र ईश्वर के पास ही काल की गति समाप्त है। इसीलिए कहा गया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

—भगवान् के लोक में न सूर्य है, न चन्द्र। इसका तात्पर्य क्या? जैसे हमारे और आपके हाथ में घड़ी है, वैसे ही ये सूर्य, चन्द्र आदि भी विराट् प्रकृति की घड़ी हैं। घड़ी देखकर जैसे हम काल का निर्णय करते हैं, उसी प्रकार सूर्य प्रकृति के काल का निर्णय करता है। पर ईश्वर के पास काल अचल है। या यों कह लीजिए कि

ससार में सबके पास घड़ी है, केवल ईश्वर के पास घड़ी नहीं है। इससे लोगों को बड़ा लाभ है। घड़ीवालों से हमेशा डर बना रहता है। अगर मैं दस मिनट देर से आऊँ, तो आप सब अपनी घड़ी देख मुझे उलाहना देने लग जायेंगे। संसार के जिस किसी घड़ीवाले से मिलियेगा, तो आपको उलाहना जरूर मिलेगा। पर ईश्वर के पास घड़ी नहीं है। उनके पास आप कितनी ही देर से क्यों न जायँ, वे कभी शिकायत नहीं करेंगे कि देर से क्यों आये। उनका द्वार सर्वदा खुला है, क्योंकि वहाँ काल नहीं है। और चूँकि काल नहीं है इसलिए द्वार भी कभी बन्द नहीं होता।

जयन्त भागता है। वह जहाँ जाता है, बाण उसके पीछे लगा रहता है--

ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका।
फिरा स्रमित ब्याकुल भय सोका।।
काहुँ न बैठन कहा न ओही।
राखि को सकइ राम कर द्रोही।।

--इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक जहाँ भी जाता है, बाण उसके पीछे जाता है। वह घबरा जाता है कि यह क्या हो गया ? अचानक नारद उसे देखते हैं। पुकारते हैं, 'जयन्त ! जरा सुनो तो।' वह कहता है--'महाराज ! अभी सुनने का समय नहीं। देखते नहीं कि मेरे पीछे कौन लगा हुआ है ?' नारदजी उसके पीछे दौड़े और बोले--'कौन लगा है तुम्हारे पीछे ?' जयन्त बोला--'आप तो, महाराज,

जानकर भी अनजान के समान पूछते हैं। भगवान् का बाण जो लगा है मेरे पीछे।'

उन्होंने फिर पूछा--'यह तुम्हारे पीछे क्यों लगा ? क्या मारने के लिए ?'

उसने कहा--'हाँ, मारने के लिए।'

--'कब से लगा है ?'

--'जब से मैंने जानकीजी के चरणों में प्रहार किया।'

--'कहाँ कहाँ लगा रहा यह तुम्हारे पीछे ?'

--'जहाँ जहाँ मैं गया, वहाँ वहाँ।'

नारदजी ने कहा--'एक बात बताओ। तुम कह रहे हो कि यह बाण तुम्हें मारने के लिए पीछे लगा हुआ है और तुम जहाँ जहाँ गये, वहाँ वहाँ यह पीछा करता रहा। यदि ऐसी बात है तो इसने तुम्हें मार क्यों न डाला ? क्या इसे और कोई तैयारी करनी थी ? यह मारने आया है और मार नहीं रहा है--यह कैसी बात है ?' जयन्त बोला--'महाराज ! मैं भी यह नहीं समझ पा रहा हूँ। अब आप ही सलाह दीजिए।' नारदजी बोले--'यह मारने के लिए नहीं आया है। अगर मारने आता, तो पहले ही मार देता। चाहे जहाँ मार देता। यह तो प्रभु का निमंत्रण लेकर आया है। यह काल सर्वत्र चल रहा है। अगर इससे बचना चाहते हो तो उस अचल काल की शरण में जाओ। नहीं तो अवश्य ही मर जाओगे।'

जयन्त ने कहा--'महाराज ! आप कह तो रहे हैं,

पर मुझे बड़ा डर लग रहा है। प्रभु ने अगर पूछा कि जब तुम्हें आना ही था, तो मेरे पास से गये क्यों, तो मैं इसका क्या जवाब दूँगा ?' नारदजी ने कहा—'उनसे कहना कि मैं आपका प्रभाव देखने गया था। पास में रहने से इसका अनुभव नहीं होता। इसलिए मैं यह देखने भागा कि सारे ब्रह्माण्ड में आपका प्रभाव कितना है। और मैंने अब यह देख लिया कि इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक सर्वत्र आपका ही प्रभाव है।'

जयन्त ने कहा—'भगवन् ! भागने का उत्तर तो मिल गया, पर अगर प्रभु पूछेंगे कि लौटकर क्यों आये, तो क्या उत्तर दूँगा ?'

नारदजी बोले—'तुम कहना कि प्रभो, भागा इसलिए कि आपका प्रभाव देखूँ और जब प्रभाव देख लिया तो सोचा कि अब आपका स्वभाव भी देख लूँ। पर स्वभाव तो बिना पास आये देखा नहीं जा सकता, इसीलिए आपके पास आना पड़ा। मैंने आपके बारे में सुना है कि आप बड़े कोमल चित्त के हैं। सो देखना है कि यह बात कहाँ तक सच है।' और ऐसा कह नारदजी उसे भगवान् के पास भेज देते हैं—

पठवा तुरत राम पहिं ताहीं।
कहेसि पुकार प्रनत हित पाहीं ॥

तो, गोस्वामीजी ने भी भगवान् की परीक्षा ली। उन्होंने कहा कि मैंने भगवान् के चरित्र से न स्वच्छता ली, न गहराई और न शीतलता। मैंने तो भगवान् को

केवल अपनी लघुता दी, ताकि जो व्यर्थ है वह भी सार्थक हो जाय। और सचमुच ही गोस्वामीजी की दीनता भगवान् के गुण से मिलकर सार्थक हो गयी।

संसार में व्यक्ति के मन में जो दीनता है, वह अभाव की दीनता है। कुछ लोगों की दीनता प्रकट हो जाती है और कुछ लोगों की छिपी रहती है। पर दीनता है सबके मन में। जो बड़े होने का दावा करते हैं, वे भी दीन हैं। प्रतापभानु का चरित्र इसका द्योतक है। प्रतापभानु सारे संसार का स्वामी है। उसे देखकर क्या कोई सोच सकता है कि वह भी दीन होगा ? पर संकेत आता है कि जब कपटमुनि से उसकी मुलाकात हुई तो उसने कपटमुनि से पूछा—'आप कौन ?' कपटमुनि ने कहा—'मैं भिखारी।' फिर कपटमुनि ने पूछा—'आप कौन ?' राजा ने कहा—'मैं प्रतापभानु का मंत्री।' इस प्रकार मंत्री और भिखारी का संवाद शुरू हुआ। कपटमुनि भिखारी बना हुआ था, जिसका राज्य प्रताप-भानु के द्वारा छीन लिया गया था और प्रतापभान, जिसके पास अटूट राजसत्ता थी, मंत्री बना हुआ था। पर जितना बड़ा भिखारी कपटमुनि था, उससे बड़ा भिखारी तो वह राजा था। कई लोग कहते हैं कि प्रतापभानु बड़ा अच्छा था, कपटमुनि ने उसे धोखे से ठग लिया। पर क्या यह बात सही है ? अखबारों में प्रायः निकला करता है कि कहीं एक साधु आया और उसने सोना बनाने के नाम पर लोगों को ठग लिया। लोग

कहते हैं आजकल यह ठगी बहुत बढ़ गयी है। पर सच पूछिये तो यह मानो दो ठगों की लड़ाई है। जो व्यक्ति सोना बनाने का आश्वासन देता है, वह तो ठग है ही; पर जो लोभवश बिना परिश्रम के तुरन्त सोना प्राप्त कर लेना चाहता है, वह क्या कम ठग है ? अब इन दो ठगों की लड़ाई में जो बुद्धिमान् होगा, वह जीतेगा। गोस्वामीजी ने 'विनयपत्रिका' में लिखा है कि जब संसार में दो व्यक्ति एक दूसरे से मिलते हैं, तो वे श्वान देकर हाथी लेने की दृष्टि से मिलते हैं, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मैं कुत्ता देकर हाथी प्राप्त कर लूँ। और जो कुत्ता लेकर हाथी देना चाहे, वह अवश्य ही चालाक होगा। वह कुत्ते के बदले असली हाथी नहीं देगा। देगा तो कागज का [illegible], ताकि उसका दाम कुत्ते से कम ही रहे।

तो, कपटमुनि ने प्रतापभानु से पूछा—'क्या आपके मन में कोई इच्छा है ?' प्रतापभानु ने कहा—'वैसे तो आपकी कृपा से सब कुछ प्राप्त है, पर जब आप-जैसे महापुरुष प्रसन्न हैं, तो कुछ दे ही दीजिए।' उसने पूछा—'क्या चाहिए आपको ?' प्रतापभानु बोला—

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ ॥

—'मेरा शरीर जरा, मृत्यु और दुख से रहित हो जाय, युद्ध में मुझे कोई जीत न सके, पृथ्वी पर मेरा सौ कल्पों तक एकछत्र राज्य हो।'

यह सुन कपटमुनि हँसा। सोचा--मुझे तो केवल अपना ही छिना हुआ राज्य चाहिए और इसे तो इतना चाहिए कि मेरी चाह इसके सामने कुछ नहीं है। यही दैन्य की प्रवृत्ति है। जब दो दीन एक दूसरे को सहायता का आश्वासन देने लगें, तो परिणति क्या होगी ? यह तो वैसा ही होगा, जैसे दो डूबनेवाले एक-दूसरे से कहें--घबराओ मत, हम बचाने आ रहे हैं। इससे तो डूबने में जो थोड़ी-बहुत देर होती, वह भी पूरी हो जायगी। इसलिए गोस्वामीजी ने कहा--

जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ।

यह गोस्वामीजी का दर्शन है। वे कहते हैं कि मैं जिसको अपनी दीनता सुनाता हूँ, उसी को दीन पाता हूँ। पर जब मैंने अपनी दीनता और लघुता को भगवान् में मिला दिया, तो वह दीनता भी सार्थक हो गयी, वह लघुता भी धन्य हो गयी। दीनता तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। हर व्यक्ति के मन में अभाव है, चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो। पर दीनता और लघुता का सदुपयोग यही है कि उसे श्रीभगवान् के चरणों में समर्पित कर दिया जाय। उनके सिवा संसार में दूसरा और कोई नहीं, जो हमारी दीनता स्वीकार करे।

गोस्वामीजी एक और अनोखी बात कहते हैं। वे 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' के माध्यम से दो अलग अलग दृष्टिकोण रखते हैं। उनसे पूछा गया--'ये दोनों ग्रन्थ क्या हैं ?'

उन्होंने कहा——'दोनों माला हैं ?'

——'कैसी माला ?'

गोस्वामीजी ने कहा——'भगवान् राम का चरित्र धागा है, कविता मोती है और मोती का जन्म होता है इस प्रकार——

हृदय सिन्धु मति सीप समाना।
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू।
होंहि कबित मुकुतामनि चारू ॥

——हृदय के सागर में, बुद्धि की सीपी में जिस समय सरस्वती के द्वारा श्रेष्ठ विचारों के जल की वर्षा होती है उस समय कविता का मोती जन्म लेता है। तथा——

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग ॥

——भगवान् के चरित के धागे में कविता का मोती पिरोकर सज्जन अपने निर्मल हृदय में धारण कर अनुराग-रूपी शोभा को प्राप्त करते हैं।'

तो, यह रामचरितमानस हुआ मोतियों की माला, हमारे और आपके पहनने के लिए। पर यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि गोस्वामीजी ने प्रभु-चरित्र को तो बनाया धागा और कविता को मोती। धागा मूल्यवान् होता है या मोती ? अगर उन्हें माला बनानी ही थी, तो भगवान् के चरित्र को बनाते मोती और कविता को बनाते धागा। किन्तु उन्होंने उल्टा किया। इसका

तात्पर्य क्या है ? गोस्वामीजी बड़े भावुक हैं न ! उन्होंने कहा कि अगर भगवान् के चरित्र को मोती बना दें, तो माला बनाने के लिए मोती में छिद्र होना चाहिए। पर हमारे प्रभु के चरित्र में कोई छिद्र तो है नहीं। जब चरित्र छिद्ररहित हो, तो ऐसे मोती की माला कैसे बनेगी ? किन्तु कविता में छिद्र अवश्य है। बिना असत्य के कविता होना सम्भव नहीं। क्या बिना कल्पना के कोई कविता बन सकती है ? चन्द्रमुख का वर्णन अगर कविता में उसी प्रकार किया जाय, जैसा विज्ञान के कैमरे से चन्द्रमा का चित्र प्राप्त हो रहा है, तो उसमें कविता का रस थोड़े ही आयेगा। चन्द्रमुख का जो रस है, वह कल्पना में ही है। फिर दूसरी बात यह कि अगर प्रभु के चरित्र को मोती बना ही दें, तो इतना बड़ा धागा कहाँ, जिसमें भगवान् के गुणों का मोती पिरोया जा सके ? इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा कि हमारे प्रभु का चरित्र अनन्त धागा है, जिसमें यदि संसार के समस्त कवियों की कविता पिरोते जायँ, तो भी यह धागा कभी समाप्त नहीं होने का। माला बनाते रहें, पहनते रहें, तब भी प्रभु का चरित्र समाप्त होने का नहीं।

लोगों ने गोस्वामीजी से कहा—'अच्छा, यह तो हमने जान लिया कि रामचरितमानस की माला हमारे पहनने के लिए है, जिसमें भगवान् के गुणों का वर्णन है। पर यह विनयपत्रिका की माला किसके लिए है ? इसमें तो आपने अपने अवगुणों का ही वर्णन किया है।' गोस्वामीजी बोले—

सरन-सुखद रबिकुल-सरोज-रवि राम-नृपहि पहिरावहि।

——'विनयपत्रिका की माला भगवान् राम को पहनाने के लिए है।' इसका तात्पर्य क्या ? यही कि प्रभु के गुणों की माला हम पहन लें और हमारे अवगुणों की माला वे। अवगुणों की माला तो और कोई स्वीकार करेगा नहीं। एकमात्र प्रभु ही इतने उदार हैं कि हमारे अवगुणों को धारण कर सकते हैं, उन्हें धन्य और सार्थक बना सकते हैं। इस प्रकार गोस्वामीजी अपने अभाव को, अपने दैन्य को, अपनी लघुता को भगवान् से जोड़ देते हैं और इसके द्वारा हम सबको संकेत देते हैं कि संसार में हमारी दीनता तथा अभाव का कोई मूल्य नहीं। संसार में तो दीनता के बदले तिरस्कार ही मिलेगा। अगर इस दीनता का कहीं मूल्य है तो वह है भगवान के यहाँ। भगवान् का नियम है——

यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।

——भगवान् के द्वार में दीन का आदर है। वहाँ पर दीन पहले सफल होगा, दूसरे लोग बाद में। यह बात बिलकुल सही है कि सीमित क्षेत्र में शक्तिशाली पहले सफल होता है, पर जो असीम है उसमें तो निर्बल को ही पहले सफलता मिलती है। यदि एक-दो मील की दौड़ हो, तो उसमें तेज दौड़नेवाला पहले सफल हो जायगा, पर अगर दौड़ आकाश की हो तब तो निर्बल और कमजोर ही पहले बाजी मारेगा। कैसे ? मान लीजिए आकाश की दौड़ के लिए मच्छड़ और गरुड़ को बुलाया गया और उनसे कहा गया——जाइए, जरा आकाश के ओर-छोर का

पता लगाकर आइए। मच्छड़ और गरुड़ एक साथ उड़े। गरुड़ तेजी के साथ सैकड़ों मील आगे निकल गया, पर मच्छड़ पिछड़ा हुआ है। मच्छड़राम दो-चार घण्टे उड़े और उतने में ही आकाश की असीमता देखकर घबरा गये; वापस लौट आये। पूछा गया––'क्यों भाई ! आकाश का ओर-छोर देख आये ?' उसने कहा––'अच्छी तरह देख आया, आकाश का कोई ओर-छोर ही नहीं है; अन्त ही नहीं है।' जो बात मच्छड़ ने दो घण्टे में बतायी, वही बात गरुड़ वर्षों बाद लौटकर बतायेगा। जिसे मच्छड़ ने दो घण्टे में जाना, उसे जानने में गरुड़ को अनेक वर्ष लग गये। मच्छड़ में शक्ति कम थी, वह जल्दी थक गया और इसलिए उसने सत्य को जल्दी जान लिया। गरुड़ में थकान देरी से आयी और जब थकान का अनुभव हुआ, तभी सत्य का ज्ञान हुआ। असीम में निर्बल पहले सफल होता है और ससीम में शक्तिशाली पहले। इसीलिए गोस्वामीजी कहते हैं––

यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।

––दीन पहले पहुँचेगा, क्योंकि दीन थकेगा, दीन अभावग्रस्त होगा। ईश्वर का अन्त कोई नहीं जान सकता; पर जो ईश्वर में अपने अन्त को जितनी जल्दी जानेगा, वह उतनी ही जल्दी उन्हें पा लेगा। अगर आप भिखारी को पैसा देना चाहें तो आप उसे बुलायेंगे, पर यदि आपको यह पता चले कि भिखारी पंगु है, तो आप क्या करेंगे ? आप स्वयं चलकर उसके

पास जायेंगे और पैसा देंगे। अभाव का यह एक विशिष्ट गुण है, जिसके लिए भगवान् को स्वयं चलकर भक्त के पास आना पड़ता है। जिसमें साधना का सम्बल है, वह अपनी साधनाशक्ति के द्वारा भगवान् को पाने का प्रयास करता है, पर जो साधनारहित है, वह अपनी निस्साधना के द्वारा ही भगवान् को पाने में कहीं पहले सफल हुआ है। रामचरितमानस की यह सांकेतिक भाषा है कि भगवान् जब दो को मिले, तो साधनरहित को पहले मिले, निर्बल को पहले मिले, और सबल को बाद में।

✤

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

गीता प्रवचन–१६

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछली चर्चाओं में हमने गीता के प्रथम अध्याय पर विचार किया, जिसे 'अर्जुन-विषाद-योग' के नाम से पुकारा गया है। गीता के अध्यायों के नाम भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। प्रत्येक नाम में 'योग' शब्द जुड़ा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि हर अध्याय हमें उस परमात्मा से युक्त कर देने का एक अनूठा उपाय बतलाता है। पहला अध्याय सूचित करता है कि विषाद से भी योग सिद्ध होता है। पर विषाद अर्जुन के जैसा होना

चाहिए। 'अर्जुन' शब्द ऋजुता का, सरलता का बोधक है। जब हम सरल अन्तःकरण से ईश्वर को अपने मन-रूपी रथ की बागडोर दे देते हैं, तो मन में उठनेवाले द्वन्द्व भी योग की स्थिति को प्राप्त करने के सोपान बन जाते हैं। अर्जुन शोक से मुह्यमान था, हृदय-मन्थन से पीड़ित था, पर उसने अपना सारथ्य श्रीभगवान् को सौंप दिया था। वह ईश्वर को चलाना नहीं चाहता था, बल्कि वह चाहता था कि ईश्वर उसे चलायें। युद्ध के प्रारम्भ में जब वह श्रीकृष्ण से सहायता लेने जाता है, तो देखता है कि वे सोये हुए हैं और यह भी देखता है कि दुर्योधन पहले से वहाँ उपस्थित है। अर्जुन नम्रता-पूर्वक श्रीकृष्ण के पैताने की ओर हाथ जोड़कर खड़ा रहता है। जब श्रीकृष्ण की निद्रा टूटती है तो उनकी दृष्टि अर्जुन पर पड़ती है और वे अर्जुन से कुशल-प्रश्न करते हुए उसके आने का प्रयोजन पूछते हैं। अर्जुन उन्हें प्रणाम कर युद्ध में उनकी सहायता की याचना करता है। इतने में श्रीकृष्ण को दुर्योधन की आवाज सुनायी पड़ती है। वे मुड़कर देखते हैं। दुर्योधन सिरहाने की ओर एक सिंहासन पर बैठा हुआ है और कह रहा है—"कृष्ण ! मैं अर्जुन से पहले यहाँ पहुँचा हूँ। मैं भी युद्ध में आपसे सहायता पाने की आशा लेकर आया हूँ। अतः माँगने का पहला अधिकार मेरा है।" श्रीकृष्ण उत्तर में कहते हैं—

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन मया पार्थो धनंजयः॥

तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात् ।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥
प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः ।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥
मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥
ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः ।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥
आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम् ।
तद्वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ †

—"राजन् ! इसमें सन्देह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये है, परन्तु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुन को ही देखा है। सुयोधन ! आप पहले आये हैं और अर्जुन को पहले मैंने देखा है; इसलिए मैं दोनों की ही सहायता करूँगा। शास्त्र की आज्ञा है कि पहले बालकों को ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिए; अतः अवस्था में छोटे होने के कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पाने के अधिकारी हैं। मेरे पास एक अर्बुद गोपों की विशाल सेना है, जो सब के सब मेरे-जैसे ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्ध में डटकर लोहा लेनेवाले हैं। एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्ध के लिए उद्यत रहेंगे और दूसरी ओर से अकेला मैं रहूँगा; परन्तु मैं न तो युद्ध करूँगा और न

† महाभारत, उद्योगपर्व, ७।१५-२०

कोई शस्त्र ही धारण करूँगा। अर्जुन ! इन दोनों में से कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मन को अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्म के अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुनने का अधिकार है।"

और अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण का चुनाव किया। दुर्योधन को बड़ी प्रसन्नता होती है। उसने श्रीकृष्ण की वह विशाल नारायणी सेना माँग ली। वह सोचता है कि श्रीकृष्ण ठग लिये गये हैं--'कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्'। यह सोचकर उसका हृदय बल्लियों उछलता है। पर परिणाम अन्ततोगत्वा क्या हुआ, यह तो सभी जानते हैं।

तो, अर्जुन ने श्रीकृष्ण का चुनाव इसलिए नहीं किया कि वह मनचाहे कृष्ण को चलायेगा, बल्कि इसलिए कि कृष्ण ही उसे मनचाहे चलायेंगे। दुर्योधन ने ईश्वर के पास जाकर भी अपनी स्वार्थपूर्ति की कामना की। वह ईश्वर को चलाने के लिए गया और जो कुछ ईश्वर से उसे मिला, उसे अपने स्वार्थ में लगाकर उसने सोचा कि मैंने ईश्वर को ठग लिया है। जब तक जीव अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही ईश्वर की ओर जोहता है, तब तक वह साधक नहीं बन पाता है। हम भी यदि अर्जुन के समान ईश्वर को अपना चालक मान लें संसार की वस्तुओं में उन्हीं को सहायक के रूप में चुनें और उनके मंगलमय हाथों में अपने जीवन की बागडोर सौंप दें, तो हृदय में उठनेवाला मन्थन और उससे उत्पन्न विषाद भी उनसे

युक्त होने का साधन बन जाता है।

ऐसी भूमिका प्रस्तुत करने के बाद अब गीता हमें अपने दूसरे अध्याय पर ले आती है, जिसे 'सांख्ययोग' के नाम से पुकारा गया है। सांख्य का तात्पर्य संख्या अर्थात् गणना से होता है और इसी अर्थ की बुनियाद पर एक दर्शन का नाम 'सांख्य' रखा गया, जो षड्दर्शनों में से एक है। पर गीता में 'सांख्य' शब्द से 'सांख्य दर्शन' का तात्पर्य नहीं है। गीता की यह विशेषता है कि वह पुराने शब्दों का व्यवहार तो करती है, पर उन शब्दों को नया अर्थ प्रदान कर देती है। 'सांख्य' का एक दूसरा अर्थ होता है विवेक, विचार। और गीता इसी अर्थ में 'सांख्य' शब्द का उपयोग करती है। अतएव 'सांख्ययोग' का अर्थ वह योग हुआ, जो विवेक और विचार से सधता है।

अब प्रश्न उठता है कि विवेक और विचार से योग किस प्रकार सध सकता है? दूसरा अध्याय इसी प्रश्न का उत्तर है। इसमें बतलाया गया है कि मनुष्य शरीरमात्र नहीं है, न वह शरीर और मन की युति है, प्रत्युत वह आत्मा है जो सब प्रकार के परिवर्तनों से रहित है। पर अज्ञान के कारण वह अपने आपको देह मान बैठा है, इसलिए देह के सम्बन्धों को सत्य मानकर जीवन के वास्तविक सत्य को गँवा बैठता है। विवेक और विचार उसके इस अज्ञान को दूर करते हैं और उसे सिखाते हैं कि देह तो कपड़े की तरह है। पुराने कपड़े फटे कि हम नये पहन लेते हैं। इसी प्रकार आत्मा एक के बाद दूसरी देह धारण करती है। जिसमें

विवेक-विचार की सहायता से यह ज्ञान दृढ़मूल हो गया, वह अपनी देह और मन के परिवर्तनों का साक्षी हो जाता है और आत्मस्वरूप हो जाता है। यही सांख्ययोग की चरम स्थिति है, जिसे इस अध्याय में स्थितप्रज्ञता के नाम से पुकारा गया है।

अर्जुन को श्रीभगवान् सबसे पहले इसी आत्मज्ञान का उपदेश देते हैं। अर्जुन अपनी देह और देह के सम्बन्धों को इतना सत्य मान बैठा है कि युद्ध नहीं करने की बात करता है। एक ओर वह वर्णसंकरता और उससे उत्पन्न होनेवाले दोषों की चर्चा कर अपने ज्ञान को प्रदर्शित करता है, तो दूसरी ओर शोक से पीड़ित हो, आँसू बहाता हुआ, भिक्षा द्वारा जीवन-यापन की बात कहता हुआ अपने अज्ञान को ही प्रकट करता है। श्रीभगवान् उसके इसी अज्ञान पर नश्तर चलाना चाहते हैं। वे अज्ञान के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करते।

अर्जुन की विषण्ण स्थिति का राजा धृतराष्ट्र के समक्ष चित्रण करते हुए

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ २/१॥

(संजयः) संजय (उवाच) बोला—

(तथा) एवंविध (कृपया) करुणा से (आविष्टम्) घिरे हुए (अश्रुपूर्णाकुलेक्षण) आँसू भरे कातर नेत्रों से युक्त (विषीदन्तं) विषाद करते हुए (तं) उस [अर्जुन] को (मधुसूदनः) मधुसूदन (इदं) यह (वाक्यं, वचन (उवाच) बोले।

"संजय बोला--इस तरह आँसू भरे कातर नेत्रों से युक्त करुणा से घिरे हुए उस शोकातुर अर्जुन से भगवान् मधुसूदन यह वचन कहने लगे।"

अर्जुन करुणा से आविष्ट हो गया है, घिर गया है। करुणा के प्रवाह में उसने अपने आपको डाल दिया है, इसलिए करुणा अपनी इच्छानुसार अर्जुन में प्रतिक्रियाएँ उठा रही है। एक स्थिति वह है, जब मनुष्य अपने में करुणा को उठने देता है। ऐसी दशा में करुणा का वेग उसके वश में होता है। वह करुणा की प्रतिक्रिया को सीमा से बाहर नहीं जाने देता। ऐसी करुणा मनुष्य की हानि नहीं करती, बल्कि इस करुणा के द्वारा वह दूसरों का कल्याण करने में समर्थ होता है। पर अर्जुन की स्थिति भिन्न है। उसने मानो अपने को करुणा के सुपुर्द कर दिया है। अतः उसकी आँखें कातर हैं और आँसुओं से भरी हुई हैं, वह शोकाकुल है। यह मानो एक प्रकार की मूर्छा है, हिस्टीरिया के 'फिट' के समान है। जब किसी व्यक्ति को हिस्टीरिया का दौरा पड़ता है, तो वह ऐसा ही हो जाता है और उल्टी-सुल्टी बातें करने लगता है। बड़े-बूढ़े लोग इसका एक अचूक निदान बतलाते हैं—वह यह कि ऐसे समय रोगी को जोरों से डाँटा जाय। इससे हिस्टीरिया का दौरा अगर न रुके तो उसकी तीव्रता अवश्य कम हो जाती है। भगवान् कृष्ण उत्तम वैद्य हैं। उन्होंने समझ लिया कि अर्जुन को क्या हो रहा है और वे उचित औषध का निदान करते हैं।

श्रीभगवानुवाच--

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २/२ ॥

(श्रीभगवान्) श्री भगवान् (उवाच) बोले--

(अर्जुन) हे अर्जुन (विषमे) [ऐसे] विषम समय में (इदम्) यह (अनार्यजुष्टम्) अनार्यों के योग्य (अस्वर्ग्यम्) स्वर्ग का विरोधी (अकीर्तिकरं) अपकीर्ति करनेवाला (कश्मलं) मोह (त्वा) तुझमें (कुतः) कहाँ से (समुपस्थितम्) आ गया।

"श्रीभगवान् बोले--हे अर्जुन ! ऐसे विषम समय में यह आर्यों को शोभा न देनेवाला, स्वर्ग का विरोधी और अपकीर्ति करनेवाला मोह तुझमें कहाँ से आ गया ?"

भगवान् कृष्ण अर्जुन को झटका देते हैं। अर्जुन व्यामोह के कारण दुर्बलचित्त हो गया है, इसलिए उसका उचित-अनुचित ज्ञान नष्ट हो गया है। जिस बात को प्राथमिकता देनी चाहिए, उसे वह गौण बना देता है और जो बात गौण रहनी चाहिए, उसे प्राथमिकता प्रदान करता है। वर्णसंकरता से उत्पन्न जो दोष उसने गिनाये, उन्हें भगवान् ने काटा नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि एक विशिष्ट सन्दर्भ में वे बातें सत्य हो सकती हैं, पर आज के इस युद्धरूपी कर्तव्य के सन्दर्भ में नहीं। अर्जुन युद्ध करने के लिए आया था और अचानक वह उसे घोर कर्म, पापकर्म मानने लगता है। पर उसे सोचना चाहिए कि यदि वह युद्ध को छोड़कर चला जाय, तो क्या वह भी एक पापकर्म न होगा ? यदि वह युद्ध न करे, तो अपकीर्ति कमाने के अतिरिक्त वह कर्तव्य से च्युत होने के कारण पाप

का भागी तो होगा ही, साथ ही अधर्म के उत्थान का कारण बनेगा। सत्ता अधर्मी दुर्योधन के हाथ में चली जायगी और वह निरंकुश शासक हो जायगा। फिर, जिस राज्य में अधर्म का बोलबाला हो, उसके पतन का क्या कहना ! जब पाण्डवों के सामने, भरी सभा में पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य तथा पिता धृतराष्ट्र की उपस्थिति में दुर्योधन अपने ही घर की बहू द्रौपदी का कल्पनातीत अपमान करने पर उतारू होता है, फिर भी कोई प्रतिकार का एक शब्द तक नहीं कहता, तो इससे बढ़कर अधर्म की और क्या कल्पना की जा सकती है ? ऐसे अधर्मियों को बिना विरोध के शासन करने देना क्या बहुत बड़ा पाप न होगा ? वर्णसंकरता का दोष केवल कुल की ही हानि कर सकता है, और वह भी एक सीमा के भीतर, पर अधर्म का यह विष सारे समाज को खत्म कर देगा, मानवता का ही मूलोच्छेद कर देगा।

इसीलिए श्रीभगवान् कड़े शब्दों में अर्जुन की भर्त्सना करते हैं। जिसे अर्जुन ने 'ज्ञान' समझा था, श्रीकृष्ण उसे 'कश्मल' की—मैल की संज्ञा देते हैं। ऐसा मैल अनार्यों द्वारा ही सेवित होता है।

यहाँ पर 'अनार्य' शब्द किसी मानव-वंश का द्योतक नहीं है। 'आर्य' का अर्थ होता है श्रेष्ठ। ऋग्वेद में (१।५१।८) एक मंत्र आता है— 'विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्'। धार्मिक, विद्वान् और श्रेष्ठ जनों का नाम 'आर्य' है तथा इनसे विपरीत जनों

का नाम 'दस्यु' है। मनुस्मृति भी बताती है कि संयमी और आचारवान् माता-पिता से उत्पन्न सन्तान 'आर्य' कहलाती है। इसके विपरीत, जो काम-वासना के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं, जिनके माता-पिता संयम और आचार से रहित हैं, ऐसे लोग 'अनार्य' की कोटि में आते हैं। आर्यजन विवेक से युक्त होते हैं। अर्जुन अपने विवेक को छोड़ बैठा है, इसलिए श्रीकृष्ण उसे धिक्कारते हैं। कहते हैं-- अनार्यों के जीवन में दिखायी देनेवाला ऐसा कश्मल ऐसे अनुपयुक्त समय में तेरे मन में कैसे उत्पन्न हुआ? यहाँ तो बल की, शौर्य की बात तेरे मन में उठनी थी, कौरवों के अपमान का बदला चुकाने की ओर तेरा ध्यान होना था, उनके द्वारा किये गये अत्याचार के विरोध में तेरी आवाज बुलन्द होनी थी; पर अर्जुन! तू इसके विपरीत कार्य कर रहा है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥२/३॥

(पार्थ) हे पृथापुत्र (क्लैब्यं) नपुंसकता को (मा) मत (स्म गमः) प्राप्त हो (एतत्) यह (त्वयि) तुझमें (न) नहीं (उपपद्यते) शोभा पाती (परन्तप) हे शत्रुतापन (क्षुद्रं) क्षुद्र (हृदयदौर्बल्यं) हृदय की दुर्बलता को (त्यक्त्वा) त्यागकर (उत्तिष्ठ) उठो।

"हे पार्थ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो; यह तुझमें शोभा नहीं देती। हे शत्रुतापन! हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर उठ खड़ा हो।"

अर्जुन का इससे अधिक तिरस्कार और क्या हो

सकता है कि उस गाण्डीवधारी को श्रीकृष्ण ने नपुंसक कह दिया ! अर्जुन जिसे दया और करुणा समझता है, उसे भगवान् ने हृदय की दुर्बलता ठहरा दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन के मन में दो प्रकार का भय काम कर रहा है। एक है पाप का भय, और दूसरा है हार का भय। अर्जुन सोच रहा है कि स्वजनों और पूज्य गुरुजनों की हत्या से मुझे भीषण पाप लगेगा। इसके साथ ही उसके मन के किसी अज्ञात कोने में कौरवों से हार जाने का डर भी अपनी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर रहा है। भले ही प्रकट में अर्जुन हार जाने की बात नहीं कहता, पर जानता है कि उसके पास मात्र सात अक्षौ-हिणी सेना है, जबकि शत्रुओं के पास ग्यारह अक्षौहिणी। वह यह भी अच्छी तरह जानता है कि कौरवों की ओर से भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और कर्ण-जैसे दुर्धर्ष महा-रथी युद्ध करने के लिए खड़े हैं। भय का यह द्विविध प्रवाह उसके मन में कायरता को जन्म दे देता है, जिसे वह स्वीकार करना नहीं चाहता और इसलिए अपनी कायरता को वह धर्म की आड़ में ढकना चाहता है।

हम भी तो ऐसा ही करते हैं। जहाँ हमारी आसक्ति होती है, वहाँ हम कमजोर हो जाते हैं। अपनी कमजोरी को हम स्वीकार करना नहीं चाहते। हम उस पर एक सुन्दर सा आवरण डालने का प्रयास करते हैं। जो बली के रूप से प्रसिद्ध है, वह यदि किसी कारण से डर जाय तो कभी भी अपने भय को वह प्रकट नहीं होने देगा।

वह अपनी भय की वृत्ति पर मुलम्मा चढ़ायेगा। अर्जुन ठीक ऐसा ही करता है। अपनी कायरता को दया और करुणा के मुलम्मे में ढक देना चाहता है। पर भगवान् कृष्ण अन्तर्यामी हैं। वे अर्जुन को मनःस्थिति को भाँप लेते हैं और उसके यथोचित उपचार की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार का रोग तब तक दूर नहीं होता, जब तक रोगी अपने इस रोग को स्वीकार न कर ले। ऐसे रोग के निदान का पहला सोपान यह है कि रोगी जान ले कि वह इस रोग से ग्रस्त है। श्रीभगवान् की धिक्कार-भरी वाणी अर्जुन को अपने मानसिक रोग के प्रति जागरूक बना देती है। श्रीभगवान् जब उससे कहते हैं कि तू हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर उठ खड़ा हो, ऐसी कायरता तुझे सोहती नहीं, तो अर्जुन का मोहावसन्न मन कुछ कसमसाता है। अर्जुन ने अपनी बातें सुनाकर श्रीकृष्ण की सहानुभूति पाने की आशा की थी। ऐसे रोग से ग्रस्त मनुष्य अपना दुखड़ा रोकर यही आशा करता है कि उसे सहानुभूति प्राप्त हो। पर सहानुभूति दिखाना रोगी का अहित करना है। भगवान् कृष्ण यह जानते हैं। इसीलिए वे अर्जुन को अपने तीखे वाग्बाण से तिलमिला देते हैं। अर्जुन प्रतिवाद में कहता है--

अर्जुन उवाच--

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ २/४॥

(अर्जुनः) अर्जुन (उवाच) बोला--

(अरिसूदन) हे शत्रु का नाश करनेवाले (मधुसूदन) मधु दैत्य का संहार करनेवाले (अहं) मैं (संख्ये) युद्ध में (पूजार्हौ) पूजनीय (भीष्मं) भीष्म (द्रोणं च) एवं द्रोण को (इषुभिः) बाणों से (कथं) कैसे (प्रतियोत्स्यामि) युद्ध करूँगा।

"अर्जुन बोला--हे मधुसूदन ! रणभूमि में पितामह भीष्म और गुरु द्रोण के साथ मैं किस प्रकार बाणों से युद्ध कर सकूँगा ? क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही तो पूजा के पात्र हैं।"

अर्जुन के मन में जो पाप का भय छिपा है, वह प्रकट हो जाता है। जिन लोगों को वह पूजनीय मानता रहा, जिन पितामह भीष्म की गोद में खेला, जिन गुरु द्रोण का वह सर्वापेक्षा अधिक स्नेहभाजन रहा, उनको अपने बाणों का शिकार कैसे बना सकता है ? अर्जुन का मानस भावना और कर्तव्य के द्वन्द्व से मथा जा रहा है। प्रायः हर व्यक्ति के जीवन में, कभी न कभी, ऐसा द्वन्द्व उपस्थित होता है। भावना का पक्ष मन के अनुकूल मालूम पड़ता है तथा कर्तव्य का पक्ष बड़ा शुष्क और रूक्ष लगता है। पर वस्तुतः भावना की अपेक्षा कर्तव्य ही श्रेष्ठ हुआ करता है। ऐसे द्वन्द्व के समय यदि मनुष्य अपने को भावना के प्रवाह में बहने दे, तो उसका पथच्युत होना निश्चित है। ऐसे ही समय हमें सद्गुरु की आवश्यकता होती है, जो इस द्वन्द्व से हमारी रक्षा कर सकें। अर्जुन का यह परम सौभाग्य था कि उसे भगवान् कृष्ण जैसे गुरु मिले।

लोग कहते हैं कि अर्जुन की रक्षा के लिए तो स्वयं भगवान् ही गुरु बनकर आये थे, हमारी रक्षा के लिए ऐसा गुरु कहाँ से आयेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि

हम ईश्वर पर पूरा भरोसा रखें और ऐसे विकट क्षणों में उनकी कृपा की याचना करें, तो वे अवश्य हमारे जीवन में भी ऐसे सद्‌गुरु को भेज देते हैं, जिनका मार्ग-दर्शन हमें पथच्युत होने से बचा लेता है। यह आध्यात्मिक राज्य का अटल सिद्धान्त है कि जो भी ईश्वर को सच्चे हृदय से चाहता हुआ उनसे प्रकाश की कामना करता है, उसके जीवन में प्रकाश आता ही है।

यहाँ पर अर्जुन श्रीकृष्ण को 'मधुसूदन' और 'अरि-सूदन' कहकर सम्बोधित करता है। ये दोनों सम्बोधन प्रायः एक सा ही अर्थ रखते हैं और ऊपर से देखने पर पुनरुक्ति-दोष प्रतीत होता है। पर यदि हम यह ध्यान रखें कि अर्जुन विकल है, तो इस दोष का मार्जन हो जाता है; क्योंकि विकलता में इस प्रकार की पुनरुक्ति स्वाभाविक है। एक टीकाकार ने इन दो सम्बोधनों का यह अर्थ लगाया है कि अर्जुन भगवान् कृष्ण को 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन' के नामों से पुकारकर मानो यह कह रहा है कि आप भले ही दैत्य और शत्रु के संहारक हैं, पर पितामह भीष्म और गुरु द्रोण न तो दैत्य हैं, न मेरे शत्रु। अतः मैं इन्हें मारने की कामना कैसे कर सकता हूँ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ २/५ ॥

(महानुभावान्) महात्मा (गुरून्) गुरुओं को (अहत्वा) मारने के बदले (हि) निस्सन्देह (इह लोके) इस जगत् में

(भैक्ष्यम्) भिक्षान्न (अपि) भी (भोक्तुं) खाना (श्रेयः) श्रेयस्कर है (तु) कारण कि (गुरून्) गुरुओं को (हत्वा) मारकर (इह) यहाँ (रुधिरप्रदिग्धान्) रक्त से सने हुए (एव) ही (अर्थकामान्) अर्थ और कामरूप (भोगान्) भोगों को (भुंजीय) भोगूँगा।

"ऐसे महात्मा और पूज्य गुरुजनों को मारने के बदले इस जगत् में भीख माँगकर खाना भी निस्सन्देह श्रेयस्कर है, क्योंकि गुरुओं को मारकर इस संसार में आखिर उनके रक्त से सने हुए ही अर्थ और कामरूप भोगों को तो भोगूँगा।"

अर्जुन कहता है कि गुरुजनों को मारकर जो राज्य-भोग-सुख प्राप्त होगा, वह उनके रुधिर से सना होगा, इसलिए यह मेरे लिए सर्वथा त्याज्य है। अगर कहो कि तुम यदि युद्ध नहीं करोगे, तो राज्य-सुख नहीं मिलेगा और यदि राज्य-सुख नहीं मिलेगा, तो तुम्हारे भोजन की व्यवस्था कैसे होगी ? पास में यदि भूमि रहे, तो अन्न की व्यवस्था सम्भव हो; पर यदि जमीन या सम्पत्ति ही न हो, तो अपना पेट कैसे भरोगे ? अर्जुन कहता है—भीख माँगकर। वह भिक्षा के द्वारा जीवन-यापन कर लेगा, पर अपने हाथों को अपने गुरुजनों के रक्त से रँगना नहीं चाहेगा। यदि कोई अर्जुन से पूछे कि क्या तुम शास्त्र-वचन नहीं जानते ?

—'कौन से शास्त्रवचन ?'

—'यही कि

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥

—पिता, आचार्य, मित्र, माता, पत्नी, पुत्र और

पुरोहित इनमें जो स्वधर्म में न चले, वह राजा के द्वारा अदण्डच नहीं है, यानी दण्ड दिये जाने योग्य हैं।'

--'हाँ, यह तो जानता हूँ।'

--'और क्या यह भी जानते हो कि

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥

--यदि गुरु भी दोष में लिप्त हों और कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार न कर सकें तथा अपने ही घमण्ड में रहकर टेढ़े रास्ते से चलें, तो उनको दण्ड देना न्याय-युक्त है?'

--'हाँ, यह भी जानता हूँ।'

--'अच्छा, तो क्या तुम्हें यह भी मालूम है कि

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

--चाहे गुरु हो, बालक हो या वृद्ध, चाहे बहुपाठी ब्राह्मण हो, पर यदि वह आततायी के रूप से सामने आता है, तो बिना किसी हिचक से उसका वध कर देना चाहिए?'

--'हाँ, यह भी मुझे मालूम है।'

--'यदि तुम्हें यह सब मालूम है, तो फिर गुरुजनों से युद्ध करने में हिचक क्यों रहे हो? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि जब युधिष्ठिर युद्ध के लिए आज्ञा और आशीर्वाद माँगने भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा शल्य के पास गये और उनकी पाद-वन्दना की, तो उन लोगों ने विवशता के स्वर में युधिष्ठिर से कहा--

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

—पुरुष पैसे का दास है, पैसा किसी का दास नहीं, यह सत्य है और इसी कारण से महाराज ! हम कौरवों के धन से बँध गये हैं ? यदि तुम इस बात को जानते हो, तो यह भी समझते हो कि तुम जिन्हें गुरुजन कह रहे हो, वे लोभवश स्वधर्म से च्युत हो गये हैं और कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक खो बैठे हैं। अतः वे दण्डनीय हैं। फिर, आततायी कौरवों का पक्ष लेकर वे भी आततायी की श्रेणी में चले गये हैं, अतएव वध्य हैं। तब तुम क्यों इन पर बाण की वर्षा करने से जी चुरा रहे हो ?'

—'इसलिए कि मैं इन्हें स्वधर्मच्युत, अविवेकी और आततायी नहीं मानता। भले ही ये अर्थ की कामनावश कौरवों का साथ दे रहे हैं, तथापि इन्हें महानुभाव ही मानता हूँ। सामान्य अर्थ एवं काम की वृत्तियों की क्षुद्र सन्तुष्टि के लिए मैं अपने इन पूज्य महात्मा गुरुजनों से युद्ध नहीं कर सकता।'

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ २/६ ॥

(च) फिर (एतत्) यह (न) नहीं (विद्मः) जानते (नः) हमारे लिए (कतरत्) कौनसा (गरीयः) श्रेयस्कर (यत्) कि (वा) या (जयेम) हम जीतेंगे (यदि वा) या फिर (नः) हमें (जयेयुः) वे जीत लेंगे (यान्) जिन्हें (हत्वा) मारकर (न)

नहीं (जिजीविषामः) जीना चाहते (ते) वे (एव) ही (धार्त-राष्ट्राः) धृतराष्ट्र-पुत्र (प्रमुखे) सामने (अवस्थिताः) खड़े हैं।

"फिर हम यह भी तो नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेयस्कर होगा। (पता नहीं इस युद्ध में) हम जीतेंगे या हमें वे जीत लेंगे। अहो! जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र-पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।"

यहाँ पर अर्जुन अपने मन की डाँवाँडोल स्थिति को कुछ-कुछ स्वीकार करता है। वह कहता है कि मेरी बुद्धि निश्चय नहीं कर पा रही है कि क्या करना मेरे लिए उचित होगा। अभी उसने पूरी तरह आत्मसमर्पण नहीं किया है। उसे अभी भी अपनी बुद्धि का भरोसा है। पर यहाँ पर उसके अनजाने उसके अन्तर में छिपा हार का भय प्रकट हो जाता है। ऊपर हमने कहा था कि कि अर्जुन के मन में दो प्रकार का भय है——एक तो गुरु-जनों को मारने से उत्पन्न होनेवाले पाप का भय, जिस पर चर्चा कर चुके हैं, और दूसरा, हार का भय। वह कहता है कि पता नहीं, हम जीतेंगे या वे जीतेंगे। यहीं पर हार का भय झलकता है। अब तक तो रोग के ये कारण दिखायी ही नहीं पड़ रहे थे। पर जब भगवान् कृष्ण ने कड़े शब्दों में अर्जुन का तिरस्कार किया, उसे धिक्कारा, तो उसके रोग को जन्म देनेवाले ये छिपे हुए कारण धीरे से प्रकट होते हैं। उत्तम वैद्य वह है, जो रोग को जड़ से खत्म कर देता है। पर जब तक जड़ ही पकड़ में न आये, उसे नष्ट कैसे किया जा सकता है? भगवान् कृष्ण रोग की जड़ को पकड़ना जानते हैं। वे

अर्जुन को अपने रोग का भान करा देते हैं। मानो अर्जुन से कहते हैं—‘अर्जुन ! देख, तेरी करुणा और दया की आड़ में कायरता छिपी है, पाप और हार का भय छिपा है। अपने इस रोग को पकड़। अपने दोष पर गुण का मुलम्मा मत चढ़ा। दोष को दोष के ही रूप में देख। तूने धृतराष्ट्र के पुत्रों को कब इतना प्यार किया था कि उनके बिना जीना तू दूभर मान रहा है ? जब से जानने-समझने लायक हुए हो, तभी से तो धृतराष्ट्र के पुत्रों से तुम्हारी बनी नहीं। अभी तेरह वर्ष तो उनसे लुक-छिपकर अपने प्राणों की रक्षा करते हुए वन-वन भटकते फिरे; उसके पहले भी लाक्षागृह में तुम लोगों को जीवित जला देने की योजना बनायी गयी थी। और यह सब समझते हुए भी आज जाने कैसे तुम्हारे हृदय में उनके लिए प्यार का ऐसा दरिया उमड़ रहा है कि कहते हो उनके बिना हम जीवित नहीं रहना चाहते ! अर्जुन ! टटोलो, अपने मन को अच्छी तरह टटोलो। तुम क्यों अपने को ऐसा छल रहे हो ?’

और तब अर्जुन अपने को टटोलता है। आत्म-निरीक्षण करता है। बलपूर्वक मोह के परदे को उठाने की चेष्टा करता है। देखता है कि भगवान् जो कह रहे हैं, वही ठीक है। जिसे वह करुणा और दया समझ रहा था, वह वस्तुतः कायरता ही है। कहता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥२/७॥

(कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः) कायरतारूप दोष से सने स्वभाव-वाला (धर्मसम्मूढचेताः) धर्म के सम्बन्ध में मोहितचित्त हुआ (त्वां) आपको (पृच्छामि) पूछता हूँ (मे) मेरे लिए (यत्) जो (श्रेयः) हितकर (स्यात्) हो (तत्) वह (निश्चितं) निश्चित रूप से (ब्रूहि) कहिए (अहं) मैं (ते) आपका (शिष्यः) शिष्य हूँ (त्वां) आपके (प्रपन्नं) शरणागत हुए (मां) मुझ (शाधि) उपदेश दीजिए।

"मेरा स्वभाव कायरतारूप दोष से सन गया है और धर्म का निर्णय करने में मैं मोहितचित्त हो गया हूँ। अतः आपसे पूछता हूँ, जो मेरे लिए हितकर बात हो वह निश्चित रूप से मुझे बतलाइए। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आये हुए मुझ दास को उपदेश दीजिए।"

अर्जुन अपनी भूल स्वीकार कर लेता है। कहता है कि मेरा स्वभाव कायरता के दोष से ढक जाने के कारण मैं कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने में असमर्थ हूँ। मेरी बुद्धि काम नहीं दे रही है। वह विनयपूर्वक मार्गदर्शन की याचना करता है। उसने अपने आपको अब भगवान् कृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया। पर अब भी पूरी तरह नहीं। वह शरणागत होकर, भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर उपदेश की प्रार्थना करता है, जिससे उसका कल्याण हो।

शिष्ट जनों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि जो मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य की उलझन में पड़ जाय, वह यदि

इस श्लोक का जप करता हुआ सो जाय, तो स्वप्न में भगवान् उसे एक रास्ता दिखा देते हैं। अस्तु। अर्जुन आगे कहता है—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्-
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ २/८॥

(भूमौ) पृथ्वी में (असपत्नं) निष्कण्टक (ऋद्धं) धन-धान्य सम्पन्न (राज्यं) राज्य को (च) तथा (सुराणाम्) देवताओं पर (अपि) भी (आधिपत्यम्) आधिपत्य को (अवाप्य) पाकर (न हि प्रपश्यामि) मैं [कोई ऐसा उपाय] नहीं देख रहा हूँ (यत्) जो (मम) मेरी (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (उच्छोषणं) सुखानेवाले (शोकम्) शोक को (अपनुद्यात्) दूर कर सके।

"इस पृथ्वी में निष्कण्टक धन-धान्य-सम्पन्न राज्य को या देवताओं के स्वामित्व को पाकर भी मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ, जो मेरी इन्द्रियों के सुखानेवाले शोक को दूर कर सके।"

अर्जुन अब हृदय की बात खोलकर रख देता है। भगवान् से अब कोई लुका-छिपी नहीं रह गयी। और यही तो भगवान् चाहते हैं। वे चाहते हैं कि जीव उनको बिलकुल अपना माने। गोपियों के चीरहरण के पीछे यही रहस्य है। दुराव एक परदे की तरह है। अपनत्व में दुराव नहीं रह जाता। चीरहरण के द्वारा भगवान् गोपियों का अन्तिम दुराव भी दूर कर देते हैं। यहाँ भी अर्जुन के दुराव को वे दूर करते हैं। अर्जुन और कृष्ण का सम्बन्ध अनुपम है। अर्जुन

के प्रति कृष्ण के हृदय में माता का लालन है, तो पिता का पालन भी, गुरु का अनुशासन है तो राजा का रक्षण भी, और सर्वोपरि है ईश्वर का कृपाकण। यदि हम भी भगवान् के पास अर्जुन के समान अपने हृदय को खोलकर रख दें, तो यह सब हमें भी मिल सकता है। अर्जुन का शोक अत्यन्त तीव्र है, वह उसकी इन्द्रियों को सुखा दे रहा है। इस शोक से अर्जुन अपनी रक्षा चाहता है। वह भगवान् से प्रार्थना करता है। पर साथ ही यह भी कह देता है कि मैं नहीं लड़ूँगा।

संजय उवाच --

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥२/९॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥२/१०॥

(संजयः) संजय (उवाच) बोला—

(परन्तप) हे शत्रुतापन (गुडाकेशः) निद्राविजयी [अर्जुन] (हृषीकेशम्) हृषीकेश को (एवम्) ऐसा (उक्त्वा) कहकर (न योत्स्ये) नहीं लड़ूँगा (इति) ऐसा (गोविन्दम्) गोविन्द को (उक्त्वा) कहकर (तूष्णीं) मौन (बभूव ह) हो गया।

(भारत) हे भारत (हृषीकेशः) हृषीकेश (प्रहसन्) मुसकराते हुए (इव) से (उभयोः) दोनों (सेनयोः) सेनाओं के (मध्यें) बीच में (विषीदन्तं) विषाद करते हुए (तम्) उस [अर्जुन] को (इदं) यह (वचः) शब्द (उवाच) बोले।

"संजय बोला--हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र ! निद्राविजयी अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् कृष्ण से इस प्रकार कह चुकने के बाद साफ साफ यह बात कहकर कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, चुप हो गया।"

"हे भारत! इस तरह दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए अर्जुन से भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराते हुए सेयह वचन कहने लगे।"

एक ओर अर्जुन भगवान् से उपदेश की भी याचना करता है, और दूसरी ओर स्पष्ट रूप से कह भी देता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि अर्जुन ने भगवान् की शिष्यता स्वीकार तो कर ली, पर अब भी उसका अहं पूर्ण समर्पण में बाधा डाल रहा है। वह अपने युद्ध न करने के निश्चय को कायम रखता है। पर साथ ही अभिप्राय यह भी है कि यदि भगवान् उसे युद्ध की सार्थकता समझा दें, तो वह युद्ध से मुँह नहीं मोड़ेगा। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण अर्जुन के मनोभाव को समझ लेते हैं और वे मुसकराते हुए से अर्जुन को समझाने के लिए प्रवृत्त होते हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में भगवान् का मुसकराना उनकी निर्लेपता को सिद्ध करता है। जिस अर्जुन को केन्द्र बनाकर उन्होंने इस महाभारत-युद्ध की योजना वनायी, अधर्म और अन्याय के नाश का उपाय रचा, उसी अर्जुन के स्पष्ट रूप से युद्ध न करने की बात कह देने पर भी उनके माथे पर एक शिकन नहीं है। न उनमें क्रोध है, न क्षोभ, न विषाद। अधरों पर है मन्द मुसकान, जिसकी छटा अज्ञान-तिमिर का नाश कर देती है। भगवान् कृष्ण अपने उपदेशों के जाज्वल्य विग्रह हैं। स्थितप्रज्ञता का इससे बढ़कर मूर्त रूप और क्या हो सकता है? भगवान् कृष्ण का जीवन गीता की सर्वोत्तम टीका है।

*

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) मनुष्यों के प्रकार

परमहंस देव अपने शिष्यों के साथ टहल रहे थे। देखा कि एक जगह मछुए जाल फेंककर मछलियाँ पकड़ रहे हैं। एक मछुए के पास वे खड़े हो गये और शिष्यों से बोले, "ध्यानपूर्वक इस जाल में फँसी मछलियों की गतिविधियों को देखो।"

शिष्यों ने देखा कि कुछ मछलियाँ ऐसी हैं, जो नहीं जाल में निश्चल पड़ी हैं। वे निकलने की कोई कोशिश कर रही हैं, जबकि कुछ मछलियाँ जाल से निकलने की कोशिश करती रहीं, किन्तु उन्हें सफलता न मिली, और कुछ जाल से मुक्त होकर पुन: जल में क्रीड़ा कर रही हैं।

परमहंस देव ने शिष्यों से कहा, "जिस प्रकार मछलियाँ तीन प्रकार की होती हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं। एक श्रेणी उन मनुष्यों की होती है, जिनकी आत्मा ने बन्धन स्वीकार कर लिया है और वे इस भव-जाल से निकलने की बात ही नहीं सोचते। दूसरी श्रेणी ऐसे व्यक्तियों की है, जो वीरों की तरह प्रयत्न तो करते हैं, पर मुक्ति से वंचित रहते हैं और तीसरी श्रेणी उन लोगों की है, जो चरम प्रयत्न द्वारा अन्तत: मुक्ति प्राप्त कर ही लेते हैं।"

इतने में एक शिष्य बोला, "गुरुदेव ! एक श्रेणी और होती है, जिसके सम्बन्ध में आपने नहीं बताया।"

"हाँ, एक चौथी भी श्रेणी होती है," परमहंस देव बोले, "इस श्रेणी के मनुष्य उन मछलियों के समान हैं, जो जाल के निकट ही नहीं आतीं और इस तरह उनके फँसने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

(२) निर्लोभिता

एक बार बाबू शारदाप्रसाद भट्टाचार्य ने औरों की सम्मति से आम जलसे में तजवीज पेश की कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को 'पैट्रन' (संरक्षक) का अधिकार दिया जाय। सभी उपस्थित लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। इस पर स्वामीजी हँसते हुए बोले, 'पैट्रन' शब्द से गुरु-भाव की गन्ध आती है और मेरा उद्देश्य गुरुडम वाले पन्थों को तोड़ने का है, न कि स्वयं गुरु बनकर एक नवीन मत चलाने का। इस प्रकार की पदवी से भविष्य में मुझे अभिमान आ सकता है अथवा मेरे पश्चात् स्थानापन्न व्यक्ति को अहंकार हो जा सकता है। और तब आप सबके लिए बड़ी कठिनाई होगी और उसे झेलना पड़ेगा, जैसा कि अन्य नवीन मतावलम्बियों को भुगतना पड़ रहा है। इसलिए इस प्रकार की तजवीज के लिए मुझसे आग्रह न करें।"

बाबूजी ने फिर हठ किया और कहा, "आप इस समाज के परम सहायक पद को ग्रहण कीजिए।" इस पर स्वामीजी बोले, "यदि आप मुझे परम सहायक मानेंगे, तो उस जगद्गुरु सर्वशक्तिमान् परमात्मा को आप क्या कहेंगे?" फिर बाबूजी ने उनसे किसी पद के लिए आग्रह नहीं किया।

(३) आदर्श गृहिणी कौन ?

एक बार गौतम बुद्ध अनाथपिण्डक सेठ के घर पधारे। वे सेठजी से बातचीत कर ही रहे थे कि अन्तःपुर में कलह होने की आवाज सुनायी दी। तथागत के उस सम्बन्ध में पूछने पर सेठ ने बताया कि वे अपनी बहू सुजाता के कारण बड़े परेशान हैं। वह बड़ी अभिमानिनी है, पति का अनादर करती है और हमारी अवज्ञा। इसी कारण घर में हमेशा कलह हुआ करता है।

तथागत ने सेठ से बहू को भेजने कहा। उसके आने पर उन्होंने उससे प्रश्न किया, "बताओ भला, तुम वधिकसमा, चोरसमा, आर्यसमा, मातृसमा, भगिनीसमा, सखीसमा तथा दासीसमा इन सात प्रकार की गृहिणियों में से कौन हो ?" सुजाता बोली, "मैं उनका तात्पर्य समझी नहीं। कृपया स्पष्ट कहें।" तब तथागत बोले, "जो गृहिणी हमेशा क्रोध करती रहती है, जिसका पति पर बिलकुल प्रेम नहीं होता, जो उसका अपमान करती है और परपुरुष पर मुग्ध होती है, वह ठीक एक हत्यारिणी के समान होती है और इसीलिए ऐसी स्त्रियों को 'वधिकसमा' कहा जाता है। जो अपने पति की सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं करती, वरन् उसे चुराकर अपने उपभोग में लाती है, वह 'चोरसमा' होती है। जो आलसी होती है और बिलकुल काम नहीं करती, कर्कशा होती है तथा पति के सामने अपना बड़प्पन दिखाती है, वह 'आर्यसमा' होती है। जो हमेशा अपने पति का चिन्तन करती है, अपने

प्राणों से भी अधिक उसकी रक्षा करती है, वह 'मातृसमा' होती है। जो बहन के समान अपने पति पर स्नेह करती है तथा लज्जापूर्वक उसका अनुगमन करती है, वह 'भगिनीसमा' होती है। जो अपने पति को सखा मान, उसे देख चिरवियुक्त सखी के समान प्रसन्न होती है, वह 'सखीसमा' होती है। और जिस गृहिणी को उसका पति हमेशा कष्ट-क्लेश देता है, उसका हमेशा अनादर करता है, फिर भी वह चुपचाप बिना क्रोधित हुए सब सहन करती है तथा हमेशा पति की आज्ञा का पालन करती है, वह 'दासीसमा' होती है। अब बताओ भला, तुम इनमें से कौन हो ?"

यह सुनते ही सुजाता की आँखें भर आयीं। वह तथागत के चरणों में गिर पड़ी और बोली, "भगवन् ! मुझे क्षमा करें। इनमें से मैं कौन हूँ, यह बताने में मेरी वाणी असमर्थ है, किन्तु आपको यह विश्वास दिलाती हूँ कि आज से मैं अपने पति और बड़ों का आदर करूँगी तथा उनका जी न दुखाऊँगी। आज से मैं अपने को घर की दासी मानकर ही कार्य करूँगी।"

(४) मानव और दानव में फर्क

गुरु नानक अपने प्रिय शिष्य मरदाना के साथ विन्ध्याचल की तराई से जा रहे थे कि एक दिन मरदाना को वन्य जाति के लोग पकड़कर ले गये। ये लोग प्रत्येक अष्टमी तिथि को देवी को प्रसन्न करने के लिए नरबलि दिया करते थे। वे मरदाना को एक गुफा में भैरवी देवी

के सम्मुख ले गये। उन्होंने उसे एक वृक्ष से बाँधा और ढोल बजाते हुए नाचने लगे। नाच-गाना समाप्त होने पर उन्होंने मरदाना को मुक्त कर दिया। फिर पुजारी उसके सम्मुख एक बरछी लेकर आया और वह उस पर वार करने ही वाला था कि सहसा एक शान्त स्वर सुनायी दिया––'वाह गुरु !' यह सुनते ही पुजारी के हाथ से बरछी अपने आप ही नीचे गिर पड़ी।

उस वन्य जाति के सरदार कोड़ा ने नानकदेव को वहाँ आया देख कठोर शब्दों में प्रश्न किया, "कौन हो तुम ?"

"तुम्हारे ही जैसा प्रभु का बन्दा," नानकदेव ने शान्त स्वर में उत्तर दिया।

"मगर हमें तो राक्षस कहा जाता है," वह सरदार बोला। गुरुदेव ने उसके शरीर पर स्नेहिल स्पर्श करते हुए कहा, "मगर तुम राक्षस नहीं हो। तुम हो तो मानव, पर तुम्हारे कार्य अवश्य राक्षसों-जैसे हैं।"

उस स्नेहिल स्पर्श का सरदार पर ऐसा असर पड़ा कि वह कठोर मनुष्य भी पिघल गया। गुरुदेव ने उससे प्रश्न किया, "क्या यह तुम्हारी देवी किसी मृतक के प्राण वापस दे सकती है ?"

"नहीं !" सरदार ने उत्तर दिया।

"तो फिर किसी के प्राण लेने का तुम्हें क्या अधिकार है ? मनुष्य को किसी के प्राण नहीं लेने चाहिए, बल्कि उसे जीवनदान देने का प्रयास करना चाहिए। जब तुम यह करोगे, तब कोई भी तुम्हें 'राक्षस' नहीं

कहेगा। जो मनुष्य-सदृश कर्म नहीं करता, उसी को 'राक्षस' कहा जाता है।"

और यह सुन सारे जंगली मनुष्य नानकदेव के पैरों पर गिर पड़े और उन्होंने नरहत्या न करने की प्रतिज्ञा की।

•

शिवाजी पर स्वामी विवेकानन्द के विचार-६

शिवाजी और अफजल खाँ-२

डा० एम. सी. नांजुन्दाराव

(लेखक स्वामी विवेकानन्द के प्रिय भक्तों में से थे। लेखक से वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने इतिहास के ऐसे कई महत्त्वपूर्ण पृष्ठों को उजागर किया है जो विदेशी इतिहासकारों के द्वारा स्वार्थसिद्धि हेतु विकृत कर दिये गये थे। प्रस्तुत लेखमाला में स्वामीजी के द्वारा छत्रपति शिवाजी के जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्य एक नये रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। इस संस्मरणावली में स्वामीजी की इतिहास में गहरी पैठ दर्शनीय है। यह लेखमाला मूल अँगरेजी में 'वेदान्त केसरी' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए हम हिन्दीभाषी पाठकों के लाभार्थ इसे धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। यह अन्तिम लेख 'वेदान्त केसरी' के अप्रैल १९१६ के अंक से साभार गृहीत हुआ है।—सं.)

यद्यपि शिवाजी ने सोचा कि अफजल खाँ को चौंकाना अच्छा रहेगा, पर वे अब तक यह निश्चित नहीं कर पाये थे कि उन्हें क्या करना चाहिए। उनके मन में परस्पर-

विरोधी विचारों की उधेड़-बुन मची हुई थी और इससे वे बेचैन हो गये थे। ऐसे तो शिवाजी के मंत्रियों और अनुयायियों ने शिवाजी को अफजल खाँ से युद्ध करने से मना किया था, क्योंकि वे लोग लड़ाई की अपेक्षा शान्ति अधिक पसन्द करते थे, तो भी शिवाजी ने पहले अफजल खाँ से लड़ने का ही विचार किया था। मानकर ने अपनी पुस्तिका 'दि लाइफ एण्ड एक्स्प्लाइट्स ऑफ शिवाजी' में शिवाजी और उनके मंत्रियों के वार्तालाप का निम्नोक्त प्रकार से उल्लेख किया है, जिससे उनके चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

शिवाजी ने कहा, "हमें युद्ध करना चाहिए तथा शेष भगवान् पर छोड़ देना चाहिए। मैं शान्त बैठे रहने के लिए कभी जोर नहीं दूँगा।" तब मंत्रियों ने उत्तर दिया कि अगर हमारा प्रयास सफल हुआ तब तो ठीक ही ठीक है, पर यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसका नतीजा बड़ा खतरनाक निकलेगा। इस पर शिवाजी बोले, अगर हम शान्त बैठे रहे तो भी हमारे जीवन पर खतरा है, पर यदि लड़ाई की जाय तो हमारे जीतने या हारने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा, क्योंकि दोनों ही हालतों में हमारा नाम अमर हो जायगा। उन्होंने कहा कि गीता भी हमें इसी का उपदेश देती है, और देखा जाय तो लड़ने के सिवा दूसरा कोई विकल्प है भी नहीं। राजा ने आगे कहा, हमारी माता जीजाबाई और पुत्र सम्भाजी को राजगढ़ भेज दिया जाय। अगर अफजल खाँ जीत गया, तो वह मेरे साथ

ही इच्छानुसार सलूक करेगा। यदि मैं युद्धभूमि में काम आ गया, तो सम्भाजी बचा ही रहेगा। उसे राजगद्दी देकर उसके प्रति राजनिष्ठा की शपथ ली जा सकेगी। ऐसा कह-कह शिवाजी प्रतापगढ़ की ओर बढ़े। उन्होंने नेताजी पालकर को आज्ञा दी कि वह उनके पीछे पीछे आये और घाट के ऊपर व्यूह बना ले। फिर उन्होंने सोचा कि वे अफजल खाँ के पास ऊपरी तौर से शान्ति-सन्धि के लिए एक दूत भेजेंगे और इस प्रकार वे उसे सन्धि-वार्ता के लिए फँसाने की कोशिश करेंगे।

इस बीच अफजलखाँ वाई पहुँच गया था और वह भी शिवाजी के पास वार्ता करने के लिए दूत भेजने और उन्हें छलपूर्वक जीवित ही कैद करने की योजना बना रहा था। उसने अपने एक ब्राह्मण-मंत्री को बुलवा भेजा, जिसका विभिन्न इतिहासकारों ने कृष्णाजी पन्त, गोपीनाथ पन्त या पतंजलि पन्त आदि भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख किया है। उसने उसे शिवाजी के पास जाकर यह सन्देश देने के लिए कहा—"आपके पिता शहाजी और बीजापुर के शासक पुराने दोस्त रहे हैं, अतएव आपके और उनके बीच कोई गलतफहमी नहीं रहनी चाहिए। मैं शासन से यह अनुरोध करूँगा कि वे आपको कोंकणखास तथा अन्य एक जागीर सौंप दें तथा उन पहाड़ी किलों पर आपके अधिकार का अनुमोदन कर दें जिन्हें आप ले चुके हैं; साथ ही सरंजाम (सार्वजनिक सेवा के कारण पुरस्कार दिये जानेवाले गाँव और भूमि) के बारे में आपकी सभी

ख्वाहिशों को पूरा करें। आप चाहें तो बादशाह से मिल सकते हैं, पर अगर न चाहें तो कोई बात नहीं।" अफजल खाँ ने गोपीनाथ पन्त को समझाया कि तुम शिवाजी को यह सन्देश देकर उन्हें लिवा लाने की भरपूर कोशिश करना। यदि शिवाजी आने के लिए किसी प्रकार राजी न हों, तो उनसे कहना कि मैं ही उनसे व्यक्तिगत रूप से मिलने के लिए तैयार हूँ।

जब अफजल खाँ का दूत उसका सन्देश लेकर शिवाजी के पास पहुँचा, तो शिवाजी ने उसका विशेष रूप से स्वागत किया। अफजल खाँ के निर्देश के अनुसार पहले तो उसने बड़े रोब-दाब के साथ शिवाजी के छापों और घातों की बातें उठायीं और फिर अपनी हुकूमत की उदारता और अक्लमन्दी का बखान किया, जिसका कि वह प्रतिनिधित्व कर रहा था। उसने बताया कि बगावत करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ताकत के इस्तेमाल से कोई फायदा नहीं होता। यदि आत्मसमर्पण कर दिया जाय, तो न्याय चाहनेवालों की बातें सुनने के लिए हुकूमत के कान हमेशा खुले हैं। राजा शिवाजी ने स्वयं तो कोई उत्तर नहीं दिया, पर उनके एक ब्राह्मण-अधिकारी ने पर्याप्त दृढ़ता एवं विनम्रता के साथ कहा, "हुकूमत ने क्या किया? लूटपाट और स्थानीय अत्याचारों का तो कोई मुआवजा मिला नहीं। हताश होकर इसका कुछ प्रतिकार किया गया था। यह तो पहाड़ों की रीति है कि एक गाँव से दूसरे गाँव की लड़ाई होने पर उनके ऊँचे सम्बन्धों पर कोई आँच नहीं

आती, और जैसे ही झगड़े की वजह खत्म हो जाती है, वे सम्बन्ध ज्यादा दृढ़ बन जाते हैं।" उसने अन्त में अपनी बात को समाप्त करते हुए कहा, "पर ये तो निजी बातें हैं तथा इन पर एकान्त में ही विस्तार से चर्चा करना अच्छा रहेगा। अफजल खाँ के माध्यम से ही राजा इन सब बातों पर विचार करने के इच्छुक हैं। हम भला हुकूमत का क्या विरोध करेंगे ? हममें कोई दुराव नहीं है और हमारे पास उनकी ताकत का मुकाबला करने का कोई जरिया भी नहीं है।"

शिवाजी मुस्कराते हुए बोले, "ठीक यही बात है। यह तो एक कहावत-जैसी ही बात हुई कि चींटियों को मसलने के लिए हाथियों की फौज भेज दी जाय। यदि खाँ साहब मेरे राज्य की हुकूमत, जो अभी मेरे हाथों है, खुद लेना चाहें तो मैं उन्हें यह बड़ी खुशी से सौंप दूँगा और उनका ताबेदार बन जाऊँगा। क्या आप उन्हें यह बात बता देंगे ?" दूत ने उत्तर दिया, "जरूर, मेरे राजकुमार ! अफजल खाँ बड़े ही दयालु और कृपावान् हैं। उनकी आपके साथ कोई व्यक्तिगत शत्रुता तो है नहीं।" राजा हँसते हुए बोले, "हम कम से कम इसे कसौटी पर कसना चाहेंगे। आप साक्षी हैं कि आपने यहाँ अफजल खाँ का मुकाबला करने या उन्हें रोकने की कोई तैयारी नहीं देखी है। वे यहाँ जितनी जल्दी आयें उतना ही अच्छा होगा। पर हम उन पर शीघ्रता करने के लिए जोर नहीं डाल सकते। हम उनके शान्तिपूर्ण सत्कार की तैयारी करेंगे। हमने सुना है

कि वे हमारे खिलाफ जिहाद का नारा बुलन्द कर रहे हैं। अगर वे यह सब करना छोड़कर हमारी रूखी-सूखी पहाड़ी मेहमानी कबूल कर सकें, तो यह सबके लिए बड़ी खुशी की बात होगी।" इतना कहकर राजा ने दूत और उसके साथियों का फूल-पान से सत्कार करने का आदेश दिया और दरबार को बर्खास्त कर दिया। फिर उन्होंने अपने समीप खड़े विश्वासपात्र ब्राह्मण के कानों में फुसफुसाकर कहा, "खाँ के दूत को अलग से ठहराने का इन्तजाम करो। मैं आज रात को उससे एकान्त में मिलूँगा। वैसे मेरे साथ कृष्णाजी भी रहेंगे। मैं तुमसे पहली चौकी के पास भेंट करूँगा।" †

इसके बाद शिवाजी अन्दर अपनी माता के पास गये और बोले, "माँ! तुमने खाँ के दूत को देखा? मैं तो किसी बेवकूफ, जिद्दी और कट्टर मुसलमान की उम्मीद कर रहा था, पर इसके विपरीत उसने एक ब्राह्मण को भेजा। मुझे विश्वास है कि जगदम्बा उसे मुझे प्रदान कर देंगी।" माता

---

†मैं यहाँ पर घटना के इस भाग को विस्तार से चित्रित कर रहा हूँ, जिसके लिए मैंने कर्नल मीडोज टेलर द्वारा लिखे ग्रन्थ 'तारा' का सहारा लिया है। इस विस्तार में जाने का हेतु यह है कि इस गतिविधि से सम्बद्ध विभिन्न व्यक्तियों के मन की अन्दरूनी बातों को बताया जा सके और उन विभिन्न परिस्थितियों को दिखाया जा सके, जिनसे आखिरी नतीजे पर पहुँचा गया था, ताकि शिवाजी ने इस कार्य में जो हिस्सा लिया था उसका उचित मूल्यांकन किया जा सके।

ने उत्तर दिया, "डरो मत, बेटा ! अगर वह सच्चा ब्राह्मण होगा तो देवी ने उसे तुम्हें दे ही दिया है। मैं उनके दर्शन के लिए जाऊँगी और तुम्हें निर्देश देने के लिए प्रार्थना करूँगी।" इतना कहकर वे मन्दिर चली गयीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, शिवाजी सोच रहे थे कि अगर वे अफजल खाँ को अपने क्षेत्र में पा सकें और उसकी मेहमान-नवाजी कर सकें, तो वे अपना काम पूरा कर सकते हैं। क्या उन्हें उस ब्राह्मण-दूत से इस काम में मदद मिल सकेगी ? उसका एक ही शब्द अफजल खाँ के लिए अपनी फौज को घाटी में भेजने के लिए काफी होगा। उसकी फौज एक बार घाटी में घुसी, तो सबके सब उनके कब्जे में होंगे। वहाँ से उन लोगों को छुटकारा नहीं मिल पायेगा। या तो सबको आत्मसमर्पण करना होगा या फिर वे मौत के घाट उतार दिये जायेंगे। इसलिए उनकी सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि अफजल खाँ को उसकी फौज से अलग कैसे किया जाय। अब तक इस उद्देश्य की प्राप्ति का कोई उपाय निश्चित रूप नहीं ले सका था। सबसे अजीब बात यह थी कि आखिरी नतीजे के बारे में उनकी माता बिलकुल खामोश थीं। पर अब उन्होंने भवानी के मन्दिर में पुराने दिनों जैसा अपना स्थान फिर से ग्रहण कर लिया था और उनकी प्रेरणा पर शिवाजी का विश्वास अडिग था।

काफी रात बीतने पर राजा एक कम्बल में अपने को अच्छी तरह ढककर पूर्वोक्त ब्राह्मण और कुछ सेवकों

के साथ किले से उतरे और उस मकान की ओर तेजी से बढ़ चले जहाँ दूत को ठहराया गया था। वहाँ उन्होंने यह कहला भेजा कि राजा का एक सन्देशवाहक उनसे बात करना चाहता है। उत्तर मिला, "उसे अन्दर आने दो।" शिवाजी ने घुसते ही देखा कि ब्राह्मण ने उनकी तरफ एक कृपाण निकाला और उसे इस प्रकार रखा कि उसकी मूँठ उसके दाहिने हाथ के पास रहे। फिर उसने कहा, "बैठो मित्र ! और अपना काम बताओ। शिवाजी भोंसले मुझसे क्या चाहते हैं ?" राजा के चेहरे पर रूमाल बँधा हुआ था, जिससे उनका मुख कुछ छिप गया था। उन्होंने अपनी आवाज बदल ली थी। भीतर घुसते समय उन्होंने हाथ में राख लेकर नाक, आँखों और माथे पर लगा लिया था, जिससे उनकी आँखों की चमक भी ढक गयी थी। यह स्पष्ट था कि उन्हें पहचाना नहीं गया। राजा ने उत्तर दिया, "शिवाजी भोंसले ब्राह्मणों की समृद्धि और उन्नति चाहते हैं तथा उनकी हार्दिक आकांक्षा है कि वे उन्हें धनवान् बनायें। वे ब्राह्मणों की पूजा करते हैं। ब्राह्मण जैसे प्राचीन काल में शक्तिसम्पन्न थे, उन्हें वे आज वैसा ही देखना चाहते हैं। क्या आप उनकी इस आकांक्षा की पूर्ति में सहयोग नहीं दे सकते ?" ब्राह्मण ने गहरी साँस छोड़ते हुए कहा, "मैं सहायता करूँ ! भला यह कैसे हो सकता है, मित्र ? मैं तो ब्राह्मण हूँ जो केवल लेता है, देता नहीं; और फिर मैं तो म्लेच्छ का नौकर हूँ।"

"ऐसी बात नहीं है, पंडितजी ! आपकी विद्वत्ता की

कीर्ति आपसे पहले यहाँ पहुँच चुकी है। महाराज आपकी मित्रता और कल्याण चाहते हैं। मुझे आपके पास यही बताने के लिए भेजा गया है।"

तब दूत ने परेशान होकर पूछा, "मैं भला क्या कर सकता हूँ ? वे मुझसे क्या कराना चाहते हैं ? और तुम मेरे साथ इस तरह की बात करनेवाले कौन होते हो ?"

शिवाजी बोले, "इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि मैं कौन हूँ, पर मुझे यह कहने का अधिकार दिया गया है। देखिए, यह अँगूठी मेरे अधिकार की द्योतक है। राजा ने कहा था––क्या मुसलमानों के साथ मेरे दरबार में आकर बैठनेवाला यह व्यक्ति ब्राह्मण है ? धिक्, धिक्, क्या एक शुद्ध और पवित्र व्यक्ति को म्लेच्छ की सेवा करनी चाहिए ? सचमुच में यह कलियुग है, घोर कलियुग है !"

यह सुन ब्राह्मण अपने आसन में बेचैन हो उठा और उसने सफाई दी, "पर मेरे सिवा अन्य बहुत से लोग भी तो मुसलमानों की नौकरी करते हैं।"

"जो लोग तुलजा माता की मूर्ति के तोड़नेवालों की, उनके मन्दिर के भ्रष्ट करनेवालों की तथा सर्वत्र ब्राह्मणों एवं पवित्र कुलों की हत्या करनेवालों की नौकरी बजाते हैं, उन्हें धिक्कार है ! धिक्कार है !"

ब्राह्मण ने लज्जित स्वर से कहा, "जब यह काण्ड हुआ तब मैं मन्दिर में नहीं था। मैं कुछ नहीं कर सकता था।"

राजा ने पलटकर पूछा, "क्या ब्राह्मतेज इतना पतित हो गया है कि वह केवल यह कहता है कि मैं कुछ नहीं कर

सकता था ? क्या इससे जगदम्बा प्रसन्न होंगी ? आप स्वयं सोचिए। जगदम्बा के भक्तों को तो उन आदमियों पर टूट पड़ना चाहिए जिनके हाथ जगदम्बा के पुजारियों के रक्त से लाल हैं।"

ब्राह्मण कुछ सोचता हुआ बोला, "मैं तो हिन्दुओं की सेवा करना चाहता हूँ। यदि मैं अफजल खाँ और सुलतान की चाकरी छोड़ दूँ तो क्या मैं हिन्दुओं की सेवा कर सकूँगा ?"

राजा बोले, "मित्र ! यदि यह इच्छा सच्ची है तो ऐसा अवसर खोजा जा सकता है। लेकिन अपनी निष्ठा का प्रमाण देना जरूरी है। क्या आप ऐसा प्रमाण दे सकते हैं ? महाराज की क्या इच्छा है, क्या आप यह जानते हैं?" ब्राह्मण ने कहा, "मैं इसका अनुमान लगा सकता हूँ। मैं सरलता से धोखा नहीं खा सकता। यदि मैं गलत नहीं हूँ तो मैंने उनकी दृष्टि को समझ लिया है। क्या मैं केवल उन्हीं से बात कर सकता हूँ ? क्या आप मुझे उनके पास ले जा सकते हैं ?" राजा ने उत्तर दिया, "मैं आपका सन्देश उन तक पहुँचा दूँगा और भरोसे के साथ उन्हें बता दूँगा। उन्होंने इस काम के लिए मुझे चुना है, अन्यथा मैं यहाँ आने का साहस नहीं कर पाता।"

दूत क्षण भर हिचकिचाया और बोला, "यह असम्भव है। यह सम्भव नहीं कि मैं वह बात किसी दूसरे को बताऊँ, जिसे केवल शिवाजी को सुनना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता।"

तब शिवाजी ने अपने चेहरे को ढाँकनेवाले रूमाल को खोल दिया और उससे माथे और आँखों पर की राख को पोछते हुए पूछा, "मित्र ! क्या अब आपने मुझे पहचाना ?" ऐसा कह वे उठे और सम्मान के साथ दूत के चरणों का स्पर्श करते हुए बोले, "क्या आपने मुझे पहचाना? मैं इसी प्रकार पवित्र ब्राह्मणों को प्रणाम करता हूँ ।" उसनें भी उठकर शिवाजी को प्रणाम करना चाहा, पर शिवाजी ने उसे रोकते हुए कहा, "ऐसा नहीं हो सकता । आप ब्राह्मण हैं और मैं शूद्र हूँ । जैसा मैं चाहता हूँ वैसा ही होने दीजिए। प्रणाम तो आपको ग्रहण करना चाहिए, न कि मुझे ।" अब दूत ने काँपते हुए पूछा, "आप मुझसे क्या कराना चाहते हैं, महाराज ? मैंने तो म्लेच्छों की सहायता करके पाप कमाया है । सम्भव होने पर भी इसका प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता ।"

राजा ने उत्तर दिया, "पण्डितजी ! मेरे मन में बहुत से विचार हैं और भवानी बेचैन कर देनेवाले विचार पैदा कर रही हैं । लेकिन एक बात बड़ी स्पष्ट है कि भवानी के अपमान का बदला लेना होगा ।"

उसने भी दुहराया, "भवानी के अपमान का बदला लेना होगा ।" राजा ने कहा, "हाँ, दिन और रात गरीब-अमीर, बूढ़े-बच्चे, स्त्री-पुरुष सभी के कण्ठों से एक ही पुकार गूँज रही है——जगन्माता के अपमान का बदला लो । पर हमें याद रखना चाहिए कि हम उस ताकत के सामने कमजोर हैं ।" ब्राह्मण ने आवेशपूर्ण स्वर में कहा,

"कहाँ हैं वे मावली, कहाँ हैं वे केतकरी और कहाँ हैं वे शूरवीर तानाजी, जिनकी प्रशंसा हमने सुनी है ? शिवाजी भोंसले ! आप क्या कर रहे हैं ? लोग तो आपके बारे में कहते हैं कि आपकी माता आपको खींच लेती हैं, अन्यथा सारे पहाड़ में आग लग गयी होती ।"

शिवाजी ने मुस्कराते हुए कहा, "ठीक, जैसा मैंने सोचा था, वैसा ही कहा आपने। कम से कम एक ब्राह्मण तो ऐसा है जो सच्चा है। अच्छा बताइए, आप मुझे कौनसी सलाह देंगे ?"

गोपीनाथ बोला, "सुनिए, मेरे पास आइए। यदि मैं अफजल खाँ और उसके आदमियों को घाटी पर ले आऊँ, तो क्या आप खुश होंगे ? अगर मैंने ऐसा किया, तो आप मेरे लिए क्या करेंगे ?" राजा उत्तेजित होकर बोले, "जागीर, शासन या पुरोहिती का उच्च पद, आप जो भी चाहें; आपकी मौजूदा तनख्वाह का दुगुना, चाहे वह कितनी भी क्यों न हो और मेरी मैत्री—यह सब कुछ आपको मिलेगा।" फिर शिवाजी उचककर उनके पास पहुँचे और एक चमकती हुई छोटी कटार अपने वक्ष से निकालकर बोले, "आपका वध करना सरल है, क्योंकि मेरा घुटना आपके शस्त्र पर पड़ा हुआ है और इस प्रकार मैं अपने प्रस्ताव को दूसरों की जानकारी में आने से बचा सकता हूँ। लेकिन इसकी आवश्यकता नहीं है। डरिए मत।" ब्राह्मण भय से काँप रहा था और घबराहट के मारे उसकी भौंहों पर पसीना छलछला उठा था।

शिवाजी उसे आश्वस्त करते हुए बोले, "डरिए मत, केवल सच्चे बने रहिए। जब शिवाजी को राज्य मिलेगा तो वे आपको हताश नहीं करेंगे और आपको भी उनके सम्मान में हिस्सा मिलेगा।"

वह व्यक्ति अपने कपट और लोभ के जाल में फँस चुका था। वह काँपते हुए बोला, "मुझे लिखने के लिए कुछ समय दीजिए। मैं अपना पत्र कल दे दूँगा।"

शिवाजी ने कहा, "यह असम्भव है। बाहर सन्देश-वाहक तैयार हैं। खाँ को जो कुछ लिखा जायेगा, वे उसे ले जायेंगे।"

"मेरा पत्र कौन ले जायेगा ?"

"जो ब्राह्मण आज प्रातः मेरी ओर से बोल रहा था, वह कुछ घुड़सवारों के साथ तैयार है।"

"लेकिन खाँ को कोई नुकसान नहीं पहुँचना चाहिए। उन्होंने और उनके बेटे ने मुझ पर बहुत एहसान किये हैं। अन्य लोगों के साथ अपनी मर्जी से व्यवहार कर सकते हैं। आप उनके परिवार को जमानत के बतौर रख सकते हैं।"

"जिस प्रकार आप अतिथि के रूप में सामने हैं, उसी प्रकार खाँ और उनके पुत्र भी सुरक्षित रखे जायेंगे। क्या मैं लिखने की सामग्री मँगाऊँ ? कृष्णाजी !" सेवक के आते ही शिवाजी ने कहा, "वहाँ बैठो और देखो कि जो कुछ लिखा जाय, वह साफ-साफ हो।"

दूत फारसी पर अधिकार रखता था तथा शिवाजी

का सचिव भी उस भाषा को समझता था। दूत ने लिखा––"मैंने राजा, उसके किले और उसकी प्रजा को देख लिया है। चिन्तित होने की कोई वजह नहीं है। ये सब नजर-अन्दाज किये जा सकते हैं। किन्तु सब-कुछ ठीक-ठीक करने और अपना दबदबा जमाने के लिए हुजूर को समूचे लाव-लश्कर के साथ यहाँ बनायी गयी योजना के अनुसार पहुँच जाना चाहिए। पत्रवाहक राजा का एक सचिव है। वह सब कुछ निजी तौर पर खुलासा बतायेगा और इसे लिखना मुश्किल है। यहाँ एक निजी भेंट आयोजित की गयी है जिसमें राजा शिवाजी खुद को शहंशाह के सफीर के कदमों पर डाल देंगे और उन्हें वह माफी दी जायेगी जिसकी ख्वाहिश उन्होंने की है। इससे ज्यादा लिखना गुस्ताखी होगी।"

जब शिवाजी को यह खत समझाया गया, वे बोले, "यह काफी है। इससे इच्छित प्रभाव पड़ेगा। कृष्णाजी! तुम इस खत को लेकर तुरन्त छावनी की ओर बढ़ो।" फिर उन्होंने पण्डित की ओर मुड़कर कहा, "यह पर्याप्त है। पीढ़ियाँ इस बात को याद करेंगी कि कैसे गोपीनाथ पन्त ने अपने युवराज की सेवा की। डरिए मत। आपका और आपके परिजनों का कल्याण ही होगा।"

वह पत्र खाँ के पास भेज दिया गया और शिवाजी पण्डित के साथ अपनी और खाँ की भेंट के कार्यक्रम के सम्बन्ध में विचार करने लगे। दोनों शिष्टाचार के कुछ

ऐसे मुद्दों को लेकर अड़े थे जिनका हल बड़ी कठिनाई से निकाला जा सकता था। राजा एक युवराज होने के नाते खाँ से पहले नहीं मिल सकते थे और न खाँ ही हुकूमत का प्रतिनिधि होने की वजह से शिवाजी से पहले मिल सकता था। पर जैसे ही भद्रता की बाधा को पार कर दोनों की मुलाकात हो जाती, तो इसके बाद के मामलों पर चिन्ता करने की जरूरत नहीं थी। किसी की सेना वहाँ मौजूद नहीं रहनेवाली थी। उनके साथ केवल एक-एक सशस्त्र अनुचर रह सकता था, पर उन दोनों को निःशस्त्र रूप से एक ऐसे स्थान में इकट्ठा होना था, जिसका निश्चय पण्डित और शिवाजी मिलकर करें। अवसरानुकूल एक मण्डप तैयार करने का आदेश दिया गया। खाँ के चाहने पर उसके एक हजार या इससे भी अधिक श्रेष्ठतम घुड़सवार नीचे से समारोह को देख सकते थे, लेकिन वार्ता में पालकीवाहकों के सिवा केवल एक ही सेवक आ सकता था। एक ओर पण्डित खाँ के साथ रहनेवाला था तो दूसरी ओर जरूरत होने पर राजा के साथ एक सेवक ऊपर से आ सकता था। इस व्यवस्था में कोई आपत्ति दिखायी नहीं देती थी तथा कोई आपत्ति उठायी भी नहीं गयी। इसके बाद शिवाजी ने पण्डित से विदा ली और किले में लौट आये। उन्होंने अपने विश्वसनीय मंत्रियों को बुलवाकर सारी व्यवस्था की जानकारी दी और फौज को तैनात करने का आदेश दिया। वे बोल उठे, "अहो! इन बीजापुरी सूअरों की

यह अन्धी वार्ता है ! न तो उनकी आँखें हैं, न कान; अन्यथा वे समझ जाते कि हम वैसे नहीं हैं जैसे दिखते हैं। लेकिन जगन्माता ने उन्हें अन्धा और बहरा बना दिया है। मेरी माता ने भी यही कहा था कि ऐसा ही होगा।"

मालुसरे ने पूछा, "कहाँ हैं वे ? वे हमें आशीर्वाद दें तो हम रवाना हों।"

उन्होंने उत्तर दिया, "वे मन्दिर में बेचैन हैं। समय बीतता जा रहा है। उन्हें विश्वास है कि उन्हें दैवी निर्देश प्राप्त होगा। लो, यहाँ तो हमें उनकी खबर देनेवाला एक व्यक्ति भी है। कहो भिशे ! क्या खबर है ?"

"राजमाता बड़ी बेचैन हैं, महाराज ! और इधर-उधर डोल रही हैं। वे भावाविष्ट हो रही हैं। आपको उनकी बातें सुनने के लिए अब उनके समीप रहना चाहिए।"

राजा बोले, "आओ बन्धुओ, चलें। इसी दैवी आवेश पर मेरे कल का कार्य निर्भर है।"

जब वे अन्दर पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि शिवाजी की माता भवानी के सामने बैठी हुई हैं। उनकी भावो-द्दीप्त आँखें क्षण भर के लिए खुल जाती हैं। उनके ओठ काँप रहे हैं और उनमें से फेन निकल रहा है। दिव्यावेश के पहले जैसा हमेशा होता आया है, उसी प्रकार उनका शरीर एक खास ढंग से काँप रहा है।

अचानक वे अपनी भुजाओं को फेंककर जोरों से चीख पड़ीं। मालुसरे दौड़ जाता, पर शिवाजी ने उसे पीछे से पकड़ लिया और धीमे स्वर में कहा, "रुको,

उन्हें टोकने का दुस्साहस कोई नहीं कर सकता। उनके और भवानी के बीच जाकर क्या तुम मरना चाहते थे? लो, अब वे बोलेंगी। सुनो।"

पहले तो वे बुदबुदाने लगीं, जिसका अर्थ समझ नहीं पड़ा। अन्त में सभी ने बड़े भयानक और डरावने शब्द सुने। उन्हें लगा कि वे साक्षात् भवानी के सामने खड़े हैं। वे हाँफती हुई बोलीं, "अरे! मैं प्यासी हूँ। मेरी सन्तानों का वध किया गया और किसी ने उसका बदला नहीं लिया। खून! खून! मैं खून की प्यासी हूँ। मैं उन दुष्टों का, गो-हत्यारों का खून पीऊँगी, जिन लोगों ने बूढ़ों और जवानों का, बूढ़ियों और कुमारियों का, माताओं और उनके स्तन-पीते बच्चों का खून किया है।" फिर वे चीख पड़ीं "जो मुझसे प्रेम करते हैं, उन्हें मेरे लिए वध करना होगा; क्योंकि अब मैं प्यासी हूँ, जैसे पहले दानवों के रक्त की प्यासी थी।" फिर उनकी आवाज धीमी होती चली गयी और अबूझ फुसफुसाहटों में बदल गयी। शीघ्र ही वे इस प्रकार उठीं मानो मूर्छा से जागी हों। उन्होंने पीने के लिए जल मँगवाया और शिवाजी को अकेले ही वहाँ बैठे हुए देखा। उनके साथी जो शत्रुओं का निर्भय होकर सामना करते थे, देवी की इस भयावह विद्यमानता से डरा करते थे, इसलिए वे वहाँ से हट गये थे।

"अहा, तुम यहीं थे बेटा? क्या मैं कुछ बोली? भवानी सचमुच मेरे साथ थीं," उन्होंने शिवाजी की

ओर मुड़कर कहा। फिर उन्होंने एक गहरी साँस छोड़ते हुए अपनी हथेलियों को बड़ी थकान के साथ आँखों पर फिराया।

"आओ, माँ ! कुछ आराम करो।" उन्होंने माता को बड़ी कोमलता से सहारा देते हुए कहा, "आओ, तुम थक गयी हो।"

"हाँ बेटा ! मैं सचमुच थक गयी हूँ।" उन्होंने कहा, "जब तक सब कुछ खत्म नहीं हो जाता, तब तक मुझे कोई आराम नहीं मिलेगा। आओ, मैं तुम्हें सब कुछ बता दूँगी।" फिर वे उनके कमरे में गये। वहाँ वे लेट गयीं। सेवक जल ले आया और वे एक साँस में उसे पी गयीं।

"मैंने क्या कहा था, बेटा ?" उन्होंने कहा, "अब तो मेरे सामने केवल खून ही खून है--संहार, विजय और खून।" फिर उन्होंने शिवाजी का हाथ पकड़कर बड़ी गहरी दृष्टि से उनकी आँखों में देखा और चीख उठीं, "क्या तुम तैयार हो ? विजय के लिए तैयार हो ? 'जय काली !' 'जय तुलजा माता !' का सिंहनाद करने के लिए तैयार हो ?"

"हाँ माँ ! मैं तैयार हूँ। कहीं भी कोई कसर नहीं है। आदमी अपनी चौकियों पर तैनात हैं और संकेत भी निश्चित किये जा चुके हैं। अब हमसे कोई भी नहीं बच पायेगा।"

"कोई भी नहीं बच पायेगा !" उन्होंने दुहराया,

"कोई भी नहीं बचना चाहिए--एक भी नहीं। वह भी नहीं !"

"ओह माँ !" शिवाजी चीख उठे, "ऐसा नहीं होगा। यह सब एक सुनिश्चित सम्मानित विधि से होगा। सैनिक के साथ सैनिक लड़ेगा। युद्ध की औपचारिक घोषणा करनी होगी। वैसा तो करना सम्भव नहीं।"

"क्यों सम्भव नहीं, बेटा ? वैसा करना ही होगा," वे उदास स्वर से बोलीं, "अन्यथा बलिदान अधूरा और व्यर्थ हो जायगा। क्या तुम अपने लिए, मेरे लिए, हमारे अपने विश्वास के लिए यह खतरा नहीं उठाओगे ?" वे उत्तेजित होकर चीखती हुई बोलीं, "मैं देवताओं के मन्दिरों के भ्रष्ट करनेवालों पर गौरवपूर्ण विजय की शोभा-यात्रा को देख रही हूँ। मैं देख रही हूँ तुम्हारे शक्ति के उत्थान को। घृणित मुसलमान-सैन्य को मैं तुम्हारी बृहत्तर वाहिनी के द्वारा धूल में रौंदे जाते देख रही हूँ ! अब दिल्ली से रामेश्वर तक 'जय शिवाजी महाराज' का नारा उठेगा। क्या अब तुम पीछे हट जाओगे, बेटा ? क्या तुम हमारी प्राणस्वरूपा जगन्माता के समक्ष की गयी प्रतिज्ञा को भुला दोगे ? क्या तुम भी अपने पिता के समान ढुलमुल होते रहोगे ? याद रखो, तुम जगन्माता के प्रति अपने पिता से अधिक समर्पित हो। क्या तुम सोचते हो कि जगन्माता पीठ दिखानेवाले को क्षमा कर देंगी ?"

शिवाजी ने अनुनय के स्वर में कहा, "माँ! अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मुझे उसी एक व्यक्ति को छोड़

देना पड़ेगा ।"

"मैंने तुमसे कह दिया है, बेटा, कि ऐसा नहीं हो सकता । जगन्माता पुरोहितों के उस हत्यारे और अपने मन्दिर में सैकड़ों भक्तों को मौत के घाट उतार देनेवाले उस दुष्ट को नहीं छोड़ेंगी । और उसके उस मुल्ले को मारने में तुम्हें हिचकिचाहट क्यों हो रही है, बेटा, जिसने यह सारा हत्याकाण्ड कराया, जिसने प्रतिमा को गिराकर रौंदा ? तुम तो सदा ही सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़ रहे हो । क्या तुम अब दुर्बल हो गये ? क्या मैंने प्रसववेदना सहकर एक पातकी को जन्म दिया है ? अभी तुम यह फैसला कर लो कि तुम विजय और जगन्माता का भावी आशीर्वाद चाहते हो अथवा जगदम्बा की इच्छा-पूर्ति में बाधक बन उस मृत्युरूपी भयावह फल का भोग करना चाहते हो, जिसे तुम और हम अच्छी तरह से जानते हैं । ये दोनों सामने हैं । इनमें किसी एक को चुन लो, बेटा ! मैं इससे अधिक नहीं कह सकती ।" और उन्होंने अपना चेहरा दीवार की ओर फिरा लिया । पर उनकी विजय हो चुकी थी, क्योंकि उनके निश्चय का विरोध नहीं किया जा सकता था । राजा की समस्त क्रियाएँ वहीं से प्रेरणा ग्रहण करती थीं । अपनी माता के इन दैवी निर्देशों पर उनको अटूट श्रद्धा थी । इसलिए वे माता का विरोध नहीं कर सके ।

शिवाजी उठ खड़े हुए और माता को साष्टांग प्रणाम करते हुए बोले, "माँ ! मैं जानता हूँ, मैं समझ रहा हूँ

कि देवी अभी भी तुम्हारे मुख से बोल रही हैं। मैंने सब सुना है और मैं आज्ञा का पालन करूँगा। माँ! तुम मुझे आशीर्वाद दो। इससे मेरी भुजाएँ शक्तिशाली बनेंगी। तुम मेरे सिर पर अपना हाथ रखो। जगन्माता अवश्य इस महत्कार्य को क्रियान्वित करेंगी।" माता मुड़ीं और अपना हाथ शिवाजी के सिर पर रखकर बोलीं, "मैं तुम्हें उनके नाम पर आशीर्वाद देती हूँ, शिवाजी भोंसले, जो हम सबको चलाती हैं, और मैं तुम्हें उनकी शक्ति से संयुक्त करती हूँ। जाओ और बिना डरे उनके आदेश का पालन करो। तुम असफल नहीं होगे। वार्ता में जाने के पहले तुम शिरस्त्राण और बख्तर पहन लेना। अपनी बायीं उँगलियों में बघनखा धारण करना और दाहिने हाथ की आस्तीन में बिछुवा छिपा लेना। यह भवानी का आदेश है। इसके अर्थ को तुम घटना के बाद ही समझ सकोगे।"

फिर शिवाजी ने माता के चरणों में प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया और विश्राम करने चले आये।

अगली सुबह खाँ और शिवाजी की मुलाकात की सारी तैयारियाँ की गयीं। खाँ का प्रतिनिधि गोपीनाथ पन्त काफी मोटा था। उसने फाटक पर कहला भेजा कि वह खाँ से पहले पहुँच गया है और मण्डप में उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। पिछली रात के बाद वह किसी से नहीं मिला था और उसे केवल इतना मालूम था कि खाँ और राजा दोनों निःशस्त्र होकर मिलेंगे। उसे विश्वास था कि शिवाजी अफजल खाँ को गिरफ्तार कर लेंगे और उसे

अपनी सारी माँगों की पूर्ति के लिए बन्धक बना लेंगे। वह अपने मन में विचार कर रहा था कि अगर खाँ ने कोई विरोध किया और इस झगड़े में उसे चोट पहुँची, तो इसकी जवाबदारी मुझ पर नहीं होगी। वह राजा के अभिप्राय को नहीं जानता था और न राजा के साथ उतरनेवाले दोनों ब्राह्मणों को ही इसका ज्ञान था। तीनों टीले पर इकट्ठे बैठे हुए नीचे से अफजल खाँ के और ऊपर से शिवाजी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

वहाँ पहले खाँ पहुँचा। ऐसे तो वह ऊपर से निःशस्त्र दीख रहा था, पर उसके साथ सैयद बन्दा नामक एक प्रशिक्षित और प्रवीण तलवारबाज दो अन्य सेवकों के साथ चल रहा था। गोपीनाथ पन्त ने उसका स्वागत किया और उसे मण्डप के मंच पर बिठा दिया। शिवाजी उसी प्रकार सज्जित होकर ऊपर से उतरे, जैसा उनकी माता ने उन्हें पहनने और शस्त्र रखने का आदेश दिया था। पर जब उन्होंने सैयद बन्दा को खाँ के पास खड़ा देखा, तो वे ठिठक गये। उन्होंने गोपीनाथ पन्त को बुलवा-कर कहा, "मैं खाँ पर अपने पिता शहाजी के समान श्रद्धा रखता हूँ। मुझे खाँ के पास खड़े सैयद बन्दा से डर लग रहा है। उसे कुछ दूरी पर हटा दीजिए।" गोपीनाथ तब खाँ के पास जाकर बोला कि शिवाजी डरपोक है और वह सैयद बन्दा को दूर करने के लिए कह रहा है। तब खाँ के केवल दो सेवक ही उसके समीप बचे रहे। शिवाजी भी दो सेवकों के साथ पहुँचे। सेवक कुछ दूर

ठहर गये और शिवाजी मण्डप में खाँ की ओर बढ़े। † खाँ ऊँचा-पूरा, रुआबदार, विशाल शरीरवाला छः फुट का आदमी था। शिवाजी दुबले-पतले और नाटे कद के थे। जब शिवाजी उनकी ओर बढ़े, तब वह भी उनकी अगवानी करने के लिए कुछ कदम आगे आया ताकि रिवाज के मुताबिक दोनों गले मिल सकें। गले मिलते समय शिवाजी की गर्दन और उनका सिर खाँ के बाएँ बाजू झुक गया और वे उसकी काँख तक ही पहुँच पाये। अफजल खाँ ने मौका देखकर शिवाजी की गर्दन को काँख में बायें हाथ और शरीर के बीच दबाकर शिकजे-जैसा फँसा लिया। फिर उसने अचानक अपनी सलवार के भारी घेरे में छिपी हुई वजनी तलवार निकाली और जोरों से शिवाजी के बाजू पर प्रहार किया। पर इससे शिवाजी को कोई चोट नहीं पहुँची, क्योंकि तलवार अन्दर पहने बख्तर से टकराकर रह गयी। शिवाजी को खाँ के इस मन्सूबे का अन्देशा नहीं था। वे स्तब्ध से रह गये। भाग्य से उनकी अँगुलियों में लगा बघनखा उनके छुटकारे

---

† जिस समय दोनों की मुलाकात हुई, उस समय का वर्णन अनेक लेखकों ने अपने पक्षपात और पूर्वाग्रह के कारण भिन्न-भिन्न और परस्पर-विरोधी ढंग से किया है। स्वामीजी के जिस वर्णन का उल्लेख मैंने किया है, वह जस्टिस रानडे के मत से तथा मानकर की छोटी पुस्तिका 'दि लाइफ एंड एक्स्प्लाइट्स ऑफ शिवाजी' के वर्णन से पूरी तरह मिलता है तथा यही एकमात्र ऐसा वर्णन है जो तत्कालीन परिस्थितियों में सबसे तर्कसगत और स्वाभाविक है।

के लिए सामने आया। उनका बायाँ हाथ आजाद था। उन्होंने बघनखे को खाँ की नाभि में घुसा दिया। उस समय वे बस यही कर सकते थे। नाभि का हिस्सा बड़ा कोमल होता है। बघनखे के घुसने से अचानक जो दर्द पैदा हुआ उससे खाँ की गिरफ्त ढीली हो गयी और शिवाजी हिरण के समान उछलकर पीछे कूद गये। खाँ ने बिना घबराये शिवाजी के सिर पर अपनी भारी तलवार का जोरदार वार किया। पर शिवाजी के शिरस्त्राण को धन्यवाद, जिसे उन्हें पहनना पड़ा था। वे बच गये, पर उस आघात से कुछ लड़खड़ा जरूर गये और उनका शिरस्त्राण दो टुकड़े हो गया। वे मौका न चूककर आगे बढ़े और अपनी दाहिनी आस्तीन में छिपे बिछुवे को निकाल लिया। वे उछले और खाँ की गर्दन में बिछुवे का भरपूर वार किया। खाँ गिर पड़ा और जोरों से चीख उठा, "मदद, मदद! कत्ल! धोखा! धोखा!" उसकी चिल्लाहट से भारी भ्रम फैल गया। उसकी चीख सुनते ही पालकीवाहक दौड़े और खाँ को पालकी में रखकर भागे। रास्ते में सम्भाजी महालदार ने घायल खाँ को ले जाते हुए देखा। उसने पालकीवाहकों को घायल कर दिया और पालकी जमीन पर रखवा दी। फिर उसने खाँ का सिर धड़ से अलग कर दिया और उसे लेकर किले में चला गया। इस बीच सैयद बन्दा घटना-स्थली की ओर दौड़ा और राजा पर तलवार के वार बरसाने लगा। राजा ने अपने सेवक से तलवार ली और अपना बचाव करने लगे। उसके चार प्रहारों को तो

शिवाजी ने अपनी तलवार पर झेला, पर जैसे ही सैयद बन्दा ने राजा के हाथ पर वार करने की घात लगायी कि जीवोबा महाजी ने दौड़कर उसके हाथ को कन्धे से अलग कर दिया। जीवोबा वहाँ शिवाजी और सैयद बन्दा के युद्ध को देख रहा था। इस प्रकार उसने राजा पर होनेवाले एक गम्भीर आघात को विफल कर दिया। इसके बाद जो घटनाएँ हुईं, वे तो इतिहास का विषय हैं।

ऊपर घटनाओं का जैसा वर्णन किया गया है, वह कर्नल मीडोज टेलर तथा अन्य लोगों के शब्दों में है। यह वर्णन स्वामी विवेकानन्द द्वारा उस समय हम लोगों को दिये गये वर्णन से काफी मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अफजल खाँ स्वयं शिवाजी से मिलने के लिए एक कपटपूर्ण इरादे से एक बड़ी भारी तलवार अपनी घेरदार सलवार की तहों में छिपाकर पहुँचा था। गले मिलते समय उसने एक अच्छा मौका देखा और शिवाजी को अपनी काँख में फँसा लिया। इस प्रकार खाँ आततायी था और शिवाजी ने केवल आत्मरक्षा का कार्य किया था। फारसी, अँगरेज और मराठा सभी इतिहासकार इस बात पर एकमत हैं कि खाँ ने शिवाजी पर तलवार से वार किया था, किन्तु कुछ मराठा इतिहासकारों के अलावा किसी ने यह बताने की कोशिश नहीं की कि जब शिवाजी और खाँ की निःशस्त्र मुलाकात होने की बात थी, तब खाँ को वह तलवार कहाँ से मिली। मराठा इतिहासकारों ने यह स्पष्टतः बताया है कि शिवाजी के बदले अफजल खाँ ने ही कपट किया

था। अपनी माता के साथ वार्तालाप करते समय शिवाजी ने स्वयं यह बता दिया था कि वे खाँ के साथ कपटाचरण करना पसन्द नहीं करते। वे तो पहले यह समझ ही नहीं पाये थे कि बघनखा-जैसा मामूली हथियार और बिछुवा-जैसी छोटी टेढ़ी कटार को आस्तीन में छिपाकर ले जाने का आदेश क्यों दिया गया है। पर घटनाओं के उपर्युक्त वर्णन से इनमें से प्रत्येक वस्तु द्वारा साधित होनेवाले प्रयोजन की स्पष्ट जानकारी मिलती है। बिना बघनखा के शिवाजी अपनी गर्दन को खाँ की काँख की लौह-पकड़ से नहीं छुड़ा सकते थे। लोहे के शिरस्त्राण के कारण ही शिवाजी खाँ द्वारा किये गये तलवार के कपटपूर्ण वार से बच सके थे। वार ऐसा जबरदस्त था कि उससे शिरस्त्राण के दो टुकड़े हो गये थे। अनेक अँगरेजों ने बघनखे को बड़ा भयानक और कपटपूर्ण हथियार बताया है; इससे यही लगता है कि उन्होंने कभी बघनखा देखा ही नहीं है। प्रति-रक्षा के हथियार के रूप में बघनखे बड़ा नगण्य महत्त्व है, क्योंकि यह अंगुश्ताना के समान होता है जिसमें कुछ मुड़े हुए छोटे छोटे नाखून होते हैं। अथवा जैसा कि ग्राण्ट डफ ने लिखा है——यह लोहे का छोटासा औजार है जिसे उँगलियों में पहना जा सकता है। इसमें तीन मुड़ी हुई धारदार नोकें होती हैं, जिन्हें बड़ी आसानी से अधबन्द मुट्ठी में छिपाया जा सकता है। शिवाजी का यह बघनखा, उनके शिरस्त्राण के टुकड़े और खाँ की भारी तलवार आज भी बम्बई के पुरुषोत्तम विश्राम मावजी के संग्रह में देखी जा सकती है।

अँगरेज, मुसलमान और मराठा सभी इतिहासकार एक स्वर से खाँ के द्वारा शिवाजी पर तलवार चलायी जाने की बात स्वीकार करते हैं। पर वे शिवाजी पर ही कपट का आरोप लगाते हैं और खाँ के द्वारा सलवार के घेरों में तलवार छिपाकर ले जाने की बात को नजर-अन्दाज कर देते हैं। जब यह मान लिया गया था कि वे दोनों निःशस्त्र रूप से मिलेंगे तब इतिहासकारों द्वारा यह पक्षपात क्यों? मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह मृत या घायल व्यक्ति का ही पक्ष ग्रहण करता है तथा उन हेतुओं, अन्दरूनी इरादों और बाध्य करनेवाली परिस्थितियों को नकार देता है, जिनसे घटना अनिवार्य हो गयी थी।

अफजल खाँ को सेना की हार के बाद शिवाजी ने समर्पित व्यक्तियों, स्त्रियों, बुड्ढों और जवानों के प्रति सहृदयता का बर्ताव किया था। जिन दुराग्रही मुसलमान इतिहासकारों ने शिवाजी को शैतान का अवतार माना है, उन्होंने भी शिवाजी की इस सहृदयता का उल्लेख किया है। इससे राजा की महत्ता और बड़प्पन का परिचय मिलता है। कहाँ राजा की सहृदयता और उदारता और कहाँ आज के तथाकथित अधिक सभ्य पाश्चात्य देशों की पैशाचिक क्रूरता और निर्दयता !

(समाप्त)

♣

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

भारत के बारे में पाश्चात्य जगत् में उन दिनों दो धारणाएँ प्रचलित थीं। एक तो यह कि वह देश अनैतिकता, अन्धविश्वास और बुतपरस्ती से भरा पड़ा है, जिसे दूर करने के लिए वहाँ ईसाई मिशनरियों की बड़ी आवश्यकता है। और दूसरी यह कि वह रहस्य और चमत्कारों से पूर्ण देश है। वहाँ के महात्मा अपने अद्भुत जादुई करिश्मों के द्वारा लोगों को हैरत में डाल देते हैं। ऐसा कोई चमत्कार नहीं, जो वे अपनी जादुई विद्या से न कर दिखाते हों। इसी दूसरी धारणा की आड़ लेकर स्वामीजी को नीचा दिखाने की दृष्टि से 'ईवनिंग न्यूज' ने १४ फरवरी के सम्पादकीय में 'हमें कुछ चमत्कार दिखाओ' शीर्षक देकर लिखा --

"भले ही यह भद्दा प्रतीत हो पर डिट्रायटवासियों के लिए यह अनुपयुक्त न होगा कि वे अब यहाँ आये हुए एक पूर्वदेशीय अद्भुत महात्मा से आग्रह करें कि 'या तो कुछ दिखलाओ अथवा चुप रहो'। दस-पन्द्रह वर्षों से ईसाई-जगत् के लोगों को यह विश्वास करने के लिए कहा जाता रहा है कि भारत के उच्चवर्णों के कुछ लोग रहस्यमय ज्ञान में अप्रतिम हैं तथा प्राकृतिक नियमों के बारे में उनकी जानकारी हमारी अपेक्षा अनन्तगुनी अधिक है। सभी देशों में पूरब के इन फकीरों के जादुई

करिश्मे हाथ की सफाई के श्रेष्ठ उदाहरण समझे जाते हैं तथा इसी आधार पर उनके करिश्मों की तुलना नाजरथ के ईसा से की जाती है।

" 'एरीना' में आजकल एक लेखमाला निकल रही है। इसके लेखक यह दावा करते हैं कि जो कुछ उन्होंने लिखा है वह सब स्वयं प्रत्यक्ष देखा है। इतना ही नहीं, वे यह भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ये महात्मा-गण अन्तर्जगत् में ऐसे पहुँचे हुए हैं कि उन्होंने प्रकृति की शक्तियों पर लगभग पूरा अधिकार कर लिया है। चालीस-पचास फुट की ऊँचाई के वृक्ष आदमी के देखते देखते पैदा कर दिये जाते हैं और दर्शक उन पर चढ़ सकते हैं। शताब्दियों से स्थित चट्टानें तथा पहाड़ गायब कर दिये जाते हैं तथा पुनः उत्पन्न कर दिये जाते हैं। महात्माओं की उँगली के अग्रभाग से बिजली निकलती है और उससे वे इच्छा मात्र से चाहे जिसका संहार कर सकते हैं। और भी ऐसे अनेक कार्य उनके द्वारा किये जाते हैं, जिनसे पता चलता है कि वे दैवी शक्तियों से सम्पन्न हैं।

"अगर अब ये आश्चर्यजनक करिश्मे प्रदर्शित करके यह सिद्ध किया जाय कि ये प्राच्यवासी बाजीगरी में पाश्चात्यवासियों से बढ़े-चढ़े हैं, तो हम उनकी श्रेष्ठता स्वीकार कर लेंगे। उनका यह दावा है कि वे हमारी अपेक्षा वस्तुओं के प्रकृत केन्द्र के अधिक निकट पहुँचे हैं तथा हमारी आत्मश्लाघित सभ्यता उनकी सभ्यता की

तुलना में बड़ी तुच्छ और बचकानी है। यह भी दावा किया जाता है कि हमारे ईसाई-अन्धविश्वास की तुलना में उनका धार्मिक ज्ञान प्रकाशपुंज की तरह है!

"चमत्कार के इन समस्त दावों का सुस्पष्ट उत्तर तो यह होगा कि अगर वे सत्य हैं तो विद्वानों को पश्चिम आना चाहिए तथा मिशनरी कार्यों द्वारा ईसाइयों को यह दिखा देना चाहिए कि प्राच्य ज्ञान क्या कर सकता है। किन्तु इन विज्ञ पुरुषों का तो एक ही उत्तर है कि ऐसा नहीं करने का उनका एक गुप्त रहस्य है। विश्व-मेला ऐसे लोगों का एक दल अमेरिका ले आया है तथा इन लोगों में से एक सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति आजकल डिट्रायट में विद्यमान है। वर्तमान समय में यह उचित है कि स्वामी विवेकानन्द को सूचित किया जाय कि इस महान् अवसर का लाभ उठा वे उन आश्चर्यजनक चमत्कारों को सिद्ध करें, जिनके बारे में इतना सब कुछ कहा गया है।

"स्वामी विवेकानन्द यूनिटेरियन चर्च में भाषण देंगे। पर क्या वे भाषण देने के अतिरिक्त और कुछ करेंगे नहीं? यहाँ के हजारों अमेरिकन उनकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह तथा लम्बे समय तक बोल सकते हैं, वे ज्यादा मीठी बातें कर सकते हैं, ज्यादा मनोहर शैली में भाषण दे सकते हैं, पर वे दस हजार लोगों के सामने देवदार का वृक्ष खड़ा नहीं कर सकते। वे बेले आइल (Belle sle) को उठाकर सेण्ट क्लेयर (St. Clair)

झील में डुबोने और उसे निकालकर फिर से यथावत् रखने का काम नहीं कर सकते। यदि स्वामी विवेकानन्द अपनी मधुर बातों के साथ साथ इस प्रकार के कुछ करिश्मे दिखाना अस्वीकार करते हैं, तो वे अपने आत्मश्लाघित श्रेष्ठ धर्म को लाभ पहुँचाने के बदले हानि ही पहुँचायेंगे। यदि उनका धर्म हमारे धर्म से श्रेष्ठ है, तो वह वास्तव में भारत के लाखों लोगों में परिलक्षित क्यों नहीं होता? पश्चिमी आँखों में वे आश्चर्यजनक चीजें क्यों नहीं दिखतीं? वे कहाँ दिखायी देती हैं? उत्तर है--- केवल यात्रियों की रोमांचक कहानियों में, जिन्हें हजारों अमेरिकन निगलते रहे हैं। क्या कानन्द डिट्रायट में रहते हुए कुछ करके दिखायेंगे?"

डिट्रायट का वातावरण ऐसा तनावपूर्ण था कि स्वामी जी की प्रत्येक आलोचना जनता की प्रतिक्रिया के बिना समाप्त नहीं होती थी। इस सम्पादकीय का उत्तर स्वामीजी के अन्यतम प्रतिरक्षक ओ० पी० डेलडॉफ़ ने, जिन्होंने बिशप निण्डे का प्रतिवाद किया था, १६ फरवरी के 'डिट्रायट जर्नल' में दिया---

"चौदह फरवरी के 'ईवनिंग न्यूज' का सम्पादकीय--- 'हमें कुछ चमत्कार दिखाओ'---पढ़कर मुझे कुछ कम आश्चर्य और खिन्नता नहीं हुई। यह लेख उन ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के डिट्रायट आगमन के उपलक्ष में लिखा गया है, जिन्होंने न केवल सभी सम्प्रदायों के पादरियों को वरन् उन सबको आनन्दित एवं ज्ञानवर्धित

किया है, जिन्होंने उन्हें शिकागो की धर्ममहासभा में सुना है। उनकी स्पष्टवादिता, सरलता तथा अद्भुत मेधाशक्ति उनकी धार्मिक एकता तथा मानव-भ्रातृभाव के आन्तरिक प्रयास को और भी बढ़ा देती है।

" 'एक पूर्वदेशीय अद्भुत महात्मा' के नाम से विवेकानन्द को सम्बोधित करते हुए सम्पादकीय में कहा गया है--'या तो कुछ दिखलाओ अथवा चुप रहो'। और उन्हें चुनौती दी गयी है कि वे उन कुछ चमत्कारिक खेलों को दिखलायें, जिन्हें देखने का दावा भारत से आनेवाले यात्री करते हैं तथा जिनके बारे में डा० हेनशोल्ड के द्वारा 'एरीना' में लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं। सम्पादकीय ने उपहास और व्यंग्य की शैली में भारत के इन सिद्धों की तुलना नाजरथनिवासी ईसा के अलौकिक चमत्कारों से की है, पर निष्कर्ष यह निकाला है कि यह मात्र फकीरों की बाजीगरी है। लेख के अन्त में यह भी कहा गया है कि कानन्द केवल भाषण देंगे, और भाषण देने के सिवा और कुछ करेंगे नहीं; और चूँकि वे कोई चमत्कार नहीं दिखा सकते, इसलिए वे अपने स्वप्रशंसित धर्म को लाभ के बदले हानि ही पहुँचायेंगे।

"उस सम्पादकीय लेखक को यह जानना चाहिए कि चमत्कारों और अलौकिकता के अस्तित्व को जिस दृढ़ता से पूर्व के इस बुद्धिमान् व्यक्ति ने नकारा है, उतना और किसी ने नहीं। वे पूर्व से भलीभाँति परिचित हैं तथा उन्हें प्रकृति के गुह्य रहस्यों के बारे में, अध्यात्म के

बारे में तथा व्यावहारिक मानवता, धार्मिक रहस्यों और उन मंत्र-तंत्रों के बारे में अधिक उत्तम एवं विशुद्ध जानकारी है, जिन्हें जानने का दावा पूर्वदेशीय भारतीयों, थियोसोफिस्टों तथा महान् विचारकों के द्वारा किया जाता रहा है।

"उन्हें आर्यों के बारे में, पृथ्वी की प्राचीनता के बारे में, विशुद्ध संस्कृत साहित्य के बारे में, आज की लुप्तप्राय कला तथा विज्ञान के बारे में तथा धर्मों के मूल आधार के बारे में अपेक्षाकृत उत्तम ज्ञान रहा है। अन्धविश्वास, आडम्बर, अपराध तथा अनुचित कर्मों के लिए हिन्दुस्थान के इन मनीषियों को उत्तरदायी बनाना उतना ही अनुचित है, जितना कि अपने देश के भले लोगों को यहाँ व्याप्त धूर्तता और दोषों के लिए जिम्मेदार ठहराना है। क्या यह उचित है कि उस विशाल और वैचित्र्यपूर्ण देश के कुछ लोगों की भूल के लिए वहाँ के पवित्र और सरल धर्म के सच्चे प्रवक्ताओं को लांछित किया जाय? वहाँ के सारे लोगों को 'हीदन' की उपाधि देकर कुछ तथाकथित ईसाई आनन्दित होते हैं। क्या ऐसे धर्मान्ध पादरियों को हम उसके देश में भेजते रहें और उसे अपने यहाँ से ठोकर मारकर निकाल बाहर करें, केवल इसलिए कि वह हमें धोखाधड़ी से बाजीगरी दिखाकर हिन्दू नहीं बना सकता, और न वह चमत्कार ही दिखा सकता है जिसका कि वास्तव में कोई अस्तित्व ही नहीं?

"ईसा से, उनके जीते-जी, मूढ़ जनसमूह द्वारा, जो

उनके पवित्र नाम पर विश्वास नहीं करता था, ऐसा ही हठ किया गया था। पाखण्ड का दोष लगाकर उन पर थूका गया, उन्हें मारा गया और वह धर्मान्ध, कट्टर भीड़ केवल चिल्लाती रही––'उसे सूली पर लटका दो।' ईसा का तिरस्कार और उपहास करते हुए जब लोग चिल्लाये कि 'हमें चमत्कार दिखाओ', तब उन्होंने शान्त और नम्र भाव से उपालम्भ करते हुए कहा, 'तुम न तो मोजेस और पैगम्बरों पर विश्वास करोगे और न उस पर जो भले ही कब्र से उठ खड़ा हो !' केवल मूर्ख ही चमत्कार की अपेक्षा करता है अथवा उसे चाहता है।

"भारत के अथवा अन्य दूसरे देशों के विज्ञ पुरुष चमत्कार दिखाने का स्वाँग नहीं रचते; वरन् वे कठोर उपवास, प्रगाढ़ अध्ययन, शारीरिक वासनाओं के कठिन त्याग तथा प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों पर दीर्घ ध्यान के फलस्वरूप जिस आध्यात्मिकता की प्राप्ति करते हैं, वह इन अन्धविश्वासियों के दिमागों को भय और आश्चर्य में डाल देगी। जो वैज्ञानिक उस आश्चर्यजनक देश से परिचित हैं, वे ऐलान करते हैं कि वहाँ के निवासी सम्मोहन शक्ति में निष्णात हैं तथा अज्ञात युगों से विद्युत् एवं अन्य प्राकृतिक रहस्यों की चाबी अपने पास धरे हुए हैं। हमारे देश के जन्म के पहले भी भारत बहुत प्राचीन था, और आज जो कुछ जानकर हम अपनी सभ्यता का गर्व करते हैं, उससे भी कहीं अधिक यहाँ के विद्वान् भूल चुके हैं।

"यदि स्वामी विवेकानन्द शान्ति, पवित्रता, निःस्वार्थता एवं भ्रातृप्रेम को प्रसारित करने में सफल होते हैं, यदि वे धर्मान्धों की आँख खोलने, असहिष्णुओं के बहरे कानों को सुनने में सक्षम बनाने एवं तथाकथित ईसाइयों को यह बतलाने में समर्थ होते हैं कि एक हीदन में भी कुछ ऐसे गुण हो सकते हैं जिसका कि ईसाइयों में अभाव है, और सर्वोपरि, यदि वे मानवजाति के कठोर हृदय को मुलायम बनाने में समर्थ होते हैं जिसके कि वे सर्वथा योग्य हैं, तो हमारे बीच उनका मिशन व्यर्थ नहीं जायेगा।

--ओ० पी० डेलडॉक"

कहना न होगा, इस पत्र ने विचारशील वर्ग पर पर्याप्त प्रभाव डाला। एक और पत्र उस सम्पादकीय के उत्तर में स्वामीजी का पक्ष लेते हुए 'फ्री प्रेस' में प्रकाशित हुआ, किन्तु उस सम्पादकीय का सही उत्तर तो स्वयं स्वामीजी ने पत्र के संवाददाता को दिया, जो उनसे साक्षात्कार हेतु पहुँचा था। यह 'ईवनिंग न्यूज' के १७ फरवरी के अंक में इस प्रकार प्रकाशित हुआ--

"चमत्कार द्वारा अपने धर्म को प्रमाणित करने की 'न्यूज' की प्रार्थना को मैं पूरा नहीं कर सकता।" इस विषय पर छपे सम्पादकीय को दिखलाने पर विवेकानन्द ने इस पत्र के प्रतिनिधि से कहा, "पहली बात तो यह है कि मैं कोई करिश्मे वाला व्यक्ति नहीं और दूसरी यह कि जिस विशुद्ध हिन्दू धर्म का मैं अनुयायी हूँ वह चमत्कारों पर आधारित नहीं है। मैं चमत्कार-जैसी किसी चीज को

नहीं मानता। हमारी पंचेन्द्रियों से परे कुछ अलौकिक घटनाएँ अवश्य होती हैं, पर वे विशिष्ट सिद्धान्तों के द्वारा परिचालित होती हैं। हमारे धर्म का उनसे कोई सरोकार नहीं है। बहुतसी आश्चर्यजनक चीजें जो भारत में की जाती हैं तथा विदेशी पत्रों में जिनका उल्लेख किया जाता है, वे हाथ की सफाई मात्र हैं अथवा सम्मोहनजन्य भ्रम हैं। वे ज्ञानियों के कार्य नहीं। ये ज्ञानी पैसे के लिए बाजारों में अपने चमत्कार दिखाते नहीं फिरते। ऐसे ज्ञानी लोगों को केवल वे ही देख और जान पाते हैं जो सत्य को जानने की इच्छा रखते हैं तथा जो बालसुलभ उत्सुकता से प्रेरित नहीं होते।"

इस प्रकार यह मामला सुलझा। पर 'ईवनिंग न्यूज' को इतने से सन्तुष्टि नहीं हुई। अपने अहं को चरितार्थ करते हुए उसने २० फरवरी के सम्पादकीय में लिखा——

"इस हिन्दू संन्यासी के आगमन के सम्बन्ध में छापकर 'न्यूज' ने डिट्रायट की जनता की तथा पश्चिमी जगत् की यथार्थ सेवा की है। उसने इस महान् अधिकृत हिन्दू विद्वान् से चमत्कारिक घटनाओं के बारे में वह प्रमाण निकलवा ही लिया, जिसका दावा पूर्व के महात्माओं द्वारा अनवरत रूप से किया जाता रहा है। कानन्दा कहते हैं कि हिन्दू धर्म की सत्यता चमत्कारों पर आधारित नहीं है। वे इस बारे में अपना अथवा अपने किसी देशवासी का किसी प्रकार का दावा स्वीकार नहीं करते। वे फकीरों की बाजीगरी की उतनी ही निन्दा करते हैं, जितना कि एक पाश्चात्य देशीय।

सत्य अपने ही पैरों पर खड़ा होता है। यह प्रमाण जिसे 'न्यूज' ने इतने बड़े अधिकारी से दिलवाया है, उन समस्त दावों को ढा देता है, जो सिनेट, ब्लावात्स्की तथा 'एरीना' में धारावाहिक रूप से लेख प्रकाशित करनेवाले लेखक के द्वारा पूर्वीय महात्माओं के बारे में किये जाते रहे हैं। 'न्यूज' कानन्दा की प्रशंसा करता है, इसलिए नहीं कि वे लोकप्रिय हैं वरन् इसलिए कि उन्होंने आकर उन तथ्यों से हमें आनन्दित किया जो उनके ही पक्ष में लाभदायक हैं।"

"चाहे जो हो," श्रीमती बर्क लिखती हैं, "स्वामीजी ने एक ही झटके में भारत को महात्मापने और काफिरी से मुक्त कर दिया। पर यह चोट ऐसी थी जिसके लिए न तो थियोसोफिस्टों ने और न मिशनरियों ने ही उन्हें कोई धन्यवाद दिया।"

(क्रमशः)

•

भय ही मृत्यु है। भय से पार हो जाना चाहिए। आज से ही भयशून्य हो जाओ। अपने मोक्ष तथा परहित के निमित्त आत्मोत्सर्ग करने के लिए अग्रसर हो जाओ। थोड़ीसी हड्डी तथा मांस का बोझ लिये फिरने से क्या होगा?

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न--(१) पुराणों में ऐसा वर्णन आता है कि बुरे कर्म करने से नरक और अच्छे कर्म करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जब जीव कर्म का दण्ड या पुरस्कार नरक या स्वर्ग के रूप में प्राप्त कर लेता है, तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि यह पिछले जन्मों के कर्मों का फल है ? (२) युग-परिवर्तन हो रहा है और इस शताब्दी के अन्त तक पूर्ण परिवर्तन हो जायगा और इसके बाद 'महामानव युग' का प्रारम्भ होगा। यह अब योगद्रष्टाओं और भविष्यद्रष्टाओं को स्पष्ट दिखलायी दे रहा है। इस विषय पर आपके क्या विचार हैं ?

--सुखीराम यादव, लभराखुर्द

उत्तर--(१) मनुष्य अपने जीवन में तरह तरह के कर्म करता है। पर इन कर्मों की तीव्रता में भिन्नता हुआ करती है। कुछ कर्म तीव्र रूप से बुरे होते हैं। यदि ऐसे तीव्र बुरे कर्मों को तीव्रता से किया जाय, तो उनका फलभोग 'नरकवास' कहलाता है। इसी प्रकार कुछ कर्म तीव्र रूप से अच्छे होते हैं। ऐसे तीव्र अच्छे कर्मों को यदि तीव्रता के साथ, स्वार्थयुक्त भावना से (ऐसा सोचकर कि इनका सारा अच्छा फल मैं भोगूँगा) किया जाय, तो उनका फलभोग 'स्वर्गवास' कहलाता है। इन तीव्र अच्छे और बुरे कर्मों को छोड़ दें, तो सामान्य रूप से किये गये अच्छे और

बुरे कर्मों के संस्कार कहाँ जायेंगे ? इन्हीं के फलस्वरूप अगला जन्म मिला करता है। यदि हमने नरकवास के अनुरूप बुरे कर्म किये हों तो दुःखभोग के पश्चात् भी उनकी दुर्गन्ध अगले जन्म में बनी रहती है। यदि स्वर्गवास के अनुरूप अच्छे कर्म किये हों, तो सुखभोग के पश्चात् भी उनकी सुवास अगले जन्म में बनी रहती है।

(२) युग-परिवर्तन तो स्वाभाविक है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में भावों का तरंगवत् उत्थान और पतन चलता रहता है, उसी प्रकार विश्व के जीवन में भी। जो चिन्तक और मनीषी हैं, वे भावों के इस उत्थान और पतन की नियतकालिता को पकड़ने में समर्थ होते हैं। इसके लिए योगद्रष्टा और भविष्यद्रष्टा की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न--क्या गायत्री मंत्र से शक्ति की उपासना की जा सकती है ?

--रामदास अग्रवाल, कानपुर

उत्तर--गायत्री मंत्र पुरुषरूप भी है और स्त्रीरूप भी। 'सविता' को ब्रह्म का भी प्रतीक माना जा सकता है तथा ब्रह्म की शक्ति का भी। अतः गायत्री मंत्र का विधिपूर्वक निष्ठा के साथ जप करने से ईश्वर की सम्यक् उपासना हो जाती है।

♣

जो मनुष्य शिवजी को निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वही सचमुच शिवाजी की उपासना करता है। परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में देखता है तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक ही है।

--स्वामी विवेकानन्द

आश्रम समाचार

पूर्व घोषणा के अनुसार रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य, प्रातःस्मरणीय स्वामी विवेकानन्दजी का १११ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में २० जनवरी से लेकर १४ फरवरी तक अत्यन्त उल्लास के वातावरण में मनाया गया। २० से २७ जनवरी तक विभिन्न श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए भिन्न भिन्न प्रतियोगिताएँ रखी गयी थीं। इन कार्यक्रमों में छात्र-छात्राओं ने बड़ी संख्या में भाग लिया।

२५ जनवरी को स्वामी विवेकानन्दजी का जन्मदिवस था। उस दिन पूजागृह में विशेष पूजा की गयी। भजन और आरती के विशेष कार्यक्रम रखे गये।

२८ जनवरी को इस महोत्सव का औपचारिक उद्घाटन सम्पन्न हुआ। प्रमुख अतिथि के रूप में देश के मूर्धन्य साहित्यकार तथा 'नागपुर टाइम्स' के संचालक एवं प्रबन्ध सम्पादक श्री अनन्त गोपाल शेवड़े आमंत्रित थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर के कुलपति श्री जगदीशचन्द्र दीक्षित ने की। कार्यक्रम आश्रम के ब्रह्मचारियों द्वारा वेदपाठ से प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् सौ. श्रीमती यमुना शेवड़े के द्वारा मांगलिक गीत गाया गया। फिर आश्रम के सचिव स्वामी आत्मानन्द ने आश्रम का वार्षिक प्रतिवेदन पढ़कर सुनाया तथा आश्रम में निर्मित होनेवाले श्रीरामकृष्ण-मन्दिर एवं ध्यान-कक्ष की योजना श्रोताओं के समक्ष रखी। इसके पश्चात् बालक प्राथमिक शाला शान्तिनगर के चौथी कक्षा के छात्र श्री विवेक कुमार गुप्ता, अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करनेवाले होली क्रास स्कूल के छात्र श्री हर्ष शर्मा तथा अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करनेवाली सालेम कन्या शाला की छात्रा कु. वसुधा

मनियन ने क्रमशः 'बालक नरेन्द्रनाथ', 'बच्चों के विवेकानन्द' और 'यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते' विषय पर अपने सुन्दर विचार प्रस्तुत किये।

तत्पश्चात् जयन्ती-महोत्सव का उद्घाटन करते हुए श्री शेवड़े ने कहा कि आज जहाँ हम भारतीय लोग अपनी संस्कृति और आध्यात्मिकता को भुलाकर पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध के पीछे भाग रहे हैं, वहीं पश्चिम के लोग हमारी सभ्यता और संस्कृति को ग्रहण करने हेतु लालायित हैं। पश्चिमी देशों में भले ही भौतिक साधनों की अधिकता है लेकिन वहाँ का पारिवारिक जीवन पूरी तरह अव्यवस्थित है। भले ही वहाँ जन्म से लेकर कब्रिस्तान तक की व्यवस्था शासन की तरफ से होती है, तथापि पश्चिमी लोगों का मन अशान्त है। वहाँ पारिवारिक वातावरण नष्ट हो हो गया है, परिवार टूटता जा रहा है। यह सब देखकर सोचने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि पश्चिम के देशों में आज जो प्रगति हो रही है, वह वास्तव में प्रगति है या अवनति है। वहाँ भौतिकता का तो बोलबाला है, पर लोगों को आध्यात्मिक और मानसिक शान्ति नहीं मिल पा रही है। इस शान्ति को प्राप्त करने के लिए वे आज भारत की ओर ताक रहे हैं। इसका श्रेय स्वामी विवेकानन्द को ही है, क्योंकि वे ही ऐसे पहले भारतीय थे जिन्होंने विदेशियों के मन पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी थी।

श्री शेवड़े ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द के विचारों से पश्चिमी दुनिया विभोर हो उठी। प्रोफेसर राइट ने स्वामीजी से वार्तालाप के बाद कहा कि स्वामीजी से योग्यता का प्रमाण माँगना सूर्य से यह पूछने के बराबर है कि तुम प्रकाशमान क्यों हो। श्री शेवड़े ने बताया कि भारतीय संस्कृति के प्रति विदेशियों के मन में प्रगाढ़ श्रद्धा है। पश्चिमी सभ्यता आज भारतीय

सभ्यता की ओर आकर्षित हो रही है। भारत की आध्यात्मिकता ही उसकी शक्ति है। अगर भूल से उसने अपनी आध्यात्मिकता को खो दिया तो उसका सर्वनाश हो जायगा। आज वह समय आ गया है, जब वैज्ञानिक प्रगति के कारण पूर्व और पश्चिम की दूरी समाप्त हो गयी है। विदेशों में दिखायी देनेवाली सारी चकाचौंध एक आडम्बर है और इस आडम्बर से भारत का अध्यात्म ही उसकी रक्षा कर सकता है।

श्री शेवड़े ने स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन का चित्रण करते हुए कहा कि स्वामीजी ने सदा ही यह प्रयास किया कि वेदान्त का गहनतम ज्ञान सरल से सरल भाषा में विश्व के सम्मुख रखा जाय। स्वामीजी ने शिकागो सम्मेलन तथा अन्य प्रवचनों के माध्यम से सदा ही यह प्रयास किया कि भारत की आत्मा का प्रसार अन्य पश्चिमी देशों में किया जा सके। स्वामीजी द्वारा जन-कल्याण हेतु किये गये कार्यों का उल्लेख करते हुए श्री शेवड़े ने कहा कि स्वामीजी सदा इस बात के पक्षधर रहे कि जो हम भारतीयों के पास नहीं है, वह हम पश्चिमी राष्ट्रों से लें तथा जो हमारे पास है, उसे हम उन्हें दें। स्वामीजी सदा कहते थे कि पश्चिमी देशों से हमें ज्ञान-विज्ञान, संगठन-शक्ति, परिश्रम तथा समता को ग्रहण करना चाहिए और बदले में उनको धर्म, संस्कृति और आध्यात्मिकता देनी चाहिए। स्वामीजी ने सदा समन्वय के दृष्टिकोण को अपनाकर कार्य किया तथा धर्म, सम्प्रदाय एवं जातीयता से ऊँचे उठकर उन्होंने देश की सेवा की।

अन्त में उद्घाटन-भाषण का समापन करते हुए श्री शेवड़े ने कहा कि आज पश्चिम के देश भारत की आध्यात्मिकता और संस्कृति को अपनाने हेतु प्रयत्नशील हैं। अपनी विदेश-यात्रा के रोचक संस्मरण सुनाते हुए आपने कहा कि हमें स्वामी विवेकानन्द के बताये मार्ग को ग्रहण करते हुए आत्मनिरीक्षण और आत्म-

चिन्तन करना चाहिए तथा पश्चिम एवं पूर्व की सभ्यताओं के मध्य एक सेतु का निर्माण करना चाहिए।

कुलपति श्री जगदीशचन्द्र दीक्षित ने अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर प्रकाश डालते हुए कहा कि स्वामीजी का जन्म ऐसी विपरीत परिस्थिति और वातावरण में हुआ, जब अँगरेजी हुकूमत राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से देश को अपने ढाँचे में डालने का प्रयास कर रही थी। इधर अपने ही देशवासी धर्म को गलत रूप में ग्रहण कर आपस में कलह कर रहे थे। धर्म के प्रति भ्रान्तियाँ पैदा हो गयी थीं। छुआछूत और ऊँच-नीच के भेद को धर्म का अंग मान जनता एक गलत व्यवस्था के भीतर चल रही थी। अँगरेज लोग ईसाई धर्म को जनता के सामने उच्च रूप में प्रस्तुत कर भारतीयों को धर्मा-न्तरण के लिए उद्यत कर रहे थे। ऐसे समय भगवान् रामकृष्ण परमहंस अवतरित हुए और उन्होंने बिखरी हुई व्यवस्थाओं और मान्यताओं को सहेजा तथा सब धर्मों में अपने जीवन के आचरण के द्वारा समन्वय स्थापित किया। उन्होंने बताया कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक है, मार्ग अवश्य भिन्न भिन्न हो सकते हैं। इसी बात की शिक्षा उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को दी। विवेकानन्दजी चाहते थे कि भारत की संस्कृति, अध्यात्म और उच्च जीवनादर्शों का प्रचार-प्रसार विश्व के सभी देशों में हो और वे इस प्रकार भारत की दैन्य स्थिति का निराकरण करना चाहते थे। यही उनके जीवन का संकल्प था।

श्री दीक्षित ने आज के युवावर्ग द्वारा विदेशी लोगों की की जा रही नकल पर दुःख प्रकट करते हुए कहा कि हम अपनी आध्यात्मिक विरासत को भुलाकर पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध का अन्धानुकरण कर रहे हैं। आपने युवकों का आह्वान करते हुए कहा कि वे अपने देश के आदर्शों का पालन करें, अपने राष्ट्र की

आत्मा को पहचानें और स्वामी विवेकानन्दजी के द्वारा बताये गये मार्ग पर चलें। इसी में देश की भलाई है।

इसके पश्चात् प्रमुख अतिथि श्री शेवड़े द्वारा विभिन्न प्रतियोगिताओं के विजेता छात्र-छात्राओं और शैक्षणिक संस्थाओं को पुरस्कार वितरित किया गया और अन्त में स्वामी आत्मानन्द द्वारा आभार-प्रदर्शन के उपरान्त कार्यक्रम समाप्त हुआ।

२९ जनवरी से ७ फरवरी तक भारतप्रसिद्ध रामायणी पं. रामकिंकर जी उपाध्याय के रामचरितमानस पर अत्यन्त हृदयग्राही प्रवचन हुए। ८ से ११ फरवरी तक श्री विरागी जी तथा १३ वर्षीया विलक्षण प्रतिभासम्पन्न बालिका कुमारी उमा भारती के मनोमुग्धकारी और चुटकीले प्रवचन हुए। अन्तिम तीन दिन यानी १२ से १४ फरवरी तक विलक्षण प्रतिभाशाली ९ वर्षीय बालयोगी श्री विष्णु अरोड़ा एवं १६ वर्षीया विदुषी कुमारी सरोजबाला के अप्रतिम, सारगर्भित प्रवचन हुए। महोत्सव के प्रथम दिन लगभग पाँच हजार श्रोता उपस्थित थे। यह उपस्थिति प्रतिदिन बढ़ती ही गयी और अन्तिम दिन लगभग पन्द्रह हजार लोगों ने इस दिव्य रस-वर्षण का लाभ लिया।

समारोह के इन अठारह दिनों में चार लाख रुपयों से निर्मित होनेवाले श्रीरामकृष्ण-मन्दिर एवं ध्यान-कक्ष के निर्माण-कोष में दानदाताओं से लगभग ७५,०००) की राशि दानस्वरूप प्राप्त हुई। इस प्रकार उक्त कोष में कुल राशि लगभग १ लाख ५२ हजार रुपये हो गयी है, जिसमें ९२,०००) की राशि नकद है और शेष ६०,०००) की राशि वचनदान के रूप में है। ६ मार्च, १९७३ को, भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पावन आविर्भाव-तिथि के दिन, मन्दिर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है।
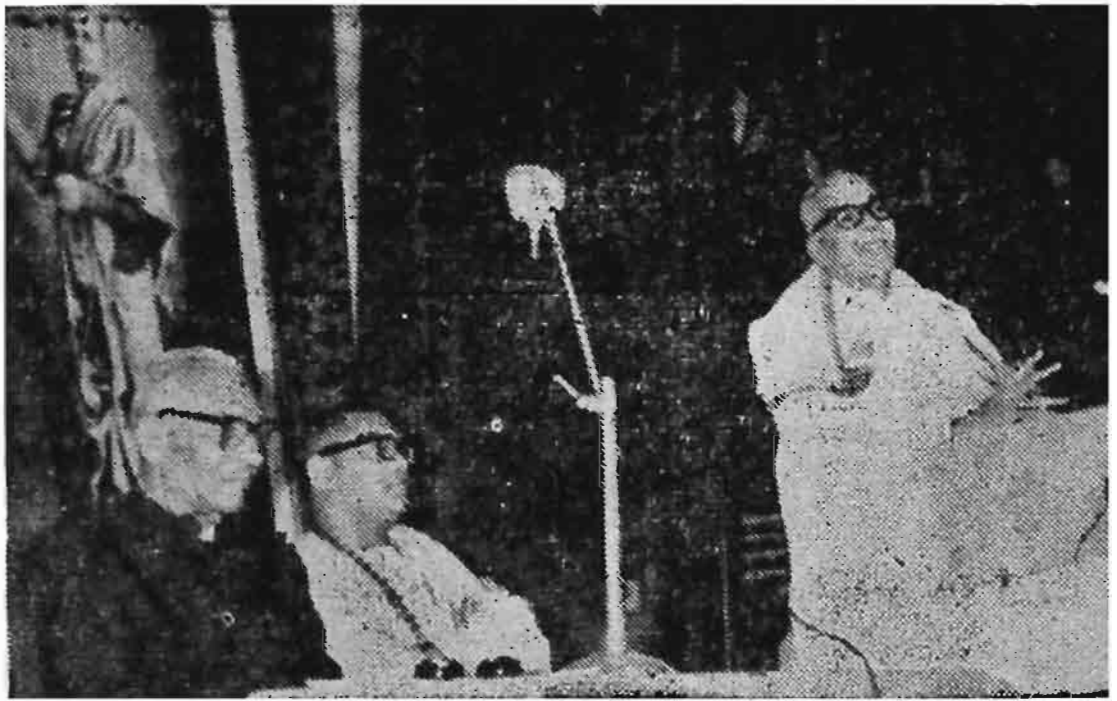
विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्‌घाटन करते
हुए श्री अनन्त गोपाल शेवड़े
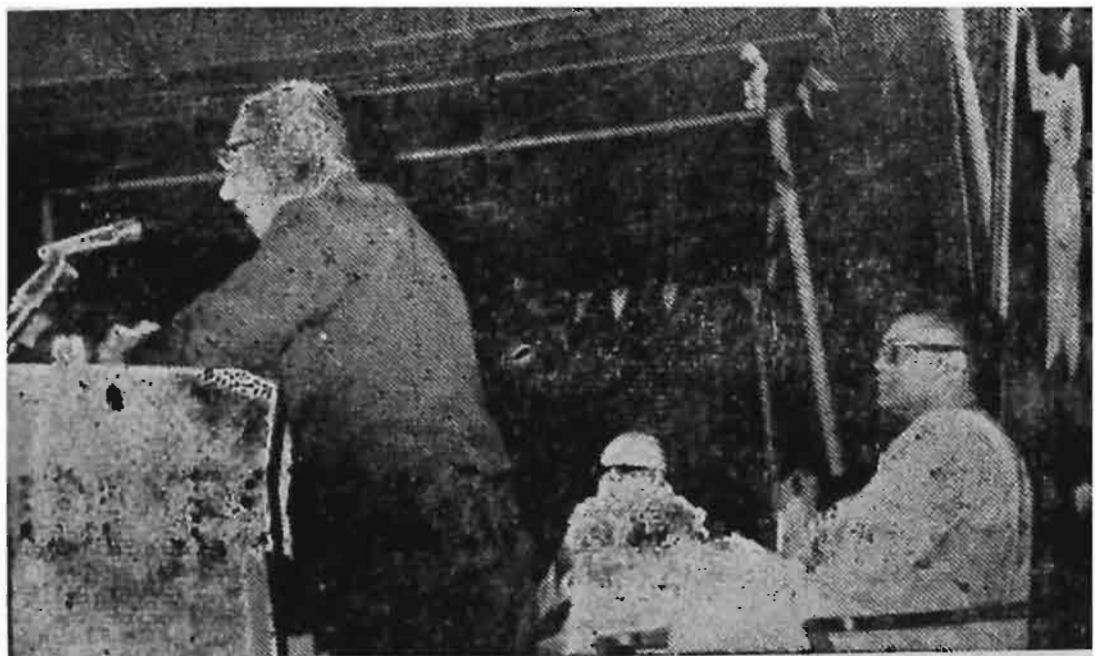
समारोह में अध्यक्षीय भाषण देते हुए
कुलपति श्री जगदीशचन्द्र दीक्षित